Tirthankara Rishaba or Chakravarttee Bharata

by

Muni Sri Mahendra Kumarji 'Pratham'

Price- 7.00

प्रकाशक

संयोजक, साहित्य सन्निधि
प्रकाशन विभाग, अग्रगामी युवक परिषद्
११ पोलक स्ट्रीट, कलकत्ता-१

शाखा

७२०२ कुतुब रोड, नई दिल्ली-५५

डी० ५३/६१ बी० गुरुबाग
लक्सारोड, वाराणसी

★

मूल्य : सात रुपये • प्रथम संस्करण : १९७५
मुद्रक : चौराहा (प्रेस) • वाराणसी

भगवान् महावीर के २५ वें शताब्दी समारोह के उपलक्ष में

तीर्थंकर ऋषभ
और
चक्रवर्ती भरत

लखक की अन्य कृतियाँ

१—२४.	जैन कहानियां, भाग १ से २४	प्रत्येक	३.००
२५—३०.	जैन कहानियां, भाग २५ से ३०	,,	५.००
३१—३४.	तीन सौ साठ कहानियां, भाग १ से ४	,,	३.००
३५.	स्मृति को बढ़ाने के प्रकार		२.५०
३६.	जनपद विहार		५.००
३७.	प्रज्ञा : प्रतीति : परिणाम		३.००
३८.	अंक-स्मृति के प्रकार		१.००
३९.	ऐकाह्निक पञ्चशती		० ४०
४०.	महावीर के सन्देश		०.४०
४१.	सत्यम् शिवम्		१ ००
४२.	आत्म-गीत		०.५०
४३.	जम्बू स्वामी री लूर		०.४०
४४.	उत्स एक : धारा अनेक		४ ००
४५.	तीर्थङ्कर ऋषभ तथा चक्रवर्ती भरत		७.००
४६.	अध्यात्म योगी महावीर		प्रेस में
४७.	महावीर की साधना के प्रकार		,,
४८—५४.	Jain Stories [Part I to 7]		,,

☆ संपादित - साहित्य ☆

● भरत मुक्ति ● आपाढ़ भूति ● श्रद्धेय के प्रति ● श्री कालू उपदेश वाटिका ● आचार्य श्री तुलसी ● आचार्य श्री तुलसी : जीवन दर्शन ● अहिंसा विवेक ● अहिंसा पर्यवेक्षण ● अणु से पूर्ण की ओर ● आगम और त्रिपिटक : एक अनुशीलन ● अणुव्रत की ओर [भाग १, २] ● अन्तर्ध्वनि ● विश्व पहेलिका ● नया युग : नया दर्शन ।

अनुक्रम

☆

प्राक्कथन

★ विश्व क्या है ? यह कब बना ? बनने से पूर्व इसकी क्या स्थिति थी ? प्रारम्भिक सभ्यता क्या रही होगी ? उसमें किस तरह के विकास हुए होंगे ? इसका भविष्य क्या होगा ? कब प्रलय होगा ? प्रलय के बाद क्या होगा ? अन्तिम सस्कृति क्या रहेगी ? स्वभावतः ही ये प्रश्न प्रत्येक व्यक्ति के मस्तिष्क में उभरते हैं। इनका समाधान इतिहास के पुरावों में खोजा गया, पर, वह हृदय में नहीं उतरा। ध्वंसावशेषों की मिट्टी व पत्थरों के टुकड़ों को प्रयोगशालाओं में लाया गया, वहा उन्हें परखा गया, फिर भी समाधान नहीं हुआ। दार्शनिकों ने भी अपने चिन्तन के आधार पर इन प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया। वह तार्किक था, अत स्थायी और सर्वजन - ग्राह्य भी बना। विभिन्न दार्शनिकों ने यद्यपि इन प्रश्नों के उत्तर भी भिन्न - भिन्न दिये, पर, कुल मिलाकर यह स्पष्ट है कि वे उत्तर ही आज सस्कृति का रूप धारण कर चुके हैं।

★ इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण और रोचक स्थल सस्कृति का उद्गम और आदि विकास ही हुआ करता है। उसमें लेखक को अन्वेषण के लिए बहुत आयास उठाना पड़ता है, पर, पाठक को उसमें उतना ही आनन्द आता है। प्रस्तुत पुस्तक में जैन दृष्टिकोण से प्राग्-ऐतिहासिक उस सस्कृति का तीर्थंकर ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत के जीवन-प्रसगों के साथ आलेख किया गया है।

★ मनुष्य व्यष्टि से समष्टि में क्यों आया ? उसके मन में वितृष्णा क्यों उत्पन्न हुई ? वितृष्णा के साथ छद्म व अह क्यों बढा ? अपराध क्यों बढे ? उनके निरोध के लिए दण्ड-व्यवस्थाओं का प्रादुर्भाव कैसे हुआ तथा अन्ततः साम्राज्यवादी वृत्तियों का विस्तार क्यों व कब हुआ, आदि पहलुओं का विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में किया गया है।

★ तीर्थंकर ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत जैन परम्परा में तो श्लाघ्य हैं ही, वैदिक परम्परा में ऋषभदेव आठवें अवतार व उनके ज्येष्ठ

पुत्र भरत अनासक्त योगी माने गये हैं। दोनों ही परम्पराओं में बहुत कुछ सादृश्य है। बौद्ध - साहित्य में भी उनका उल्लेख मिलता है। इसके साथ ही भारतवर्ष का नामकरण, भारत जाति आदि का विश्लेषण भी पुस्तक का महत्वपूर्ण अंश है।

★ वर्तमान अवसर्पण काल में तीर्थंकर ऋषभदेव सामाजिक, न्यायिक तथा धार्मिक व्यवस्थाओं के प्रवर्तक थे और चक्रवर्ती भरत उनके व्यवस्थापक। पिता–पुत्र की वह युति अनेक अभिनव स्रोतों की उद्भावक थी। जैन परम्परा के अनुसार वह एक प्रकार का उद्गम-काल था। उस समय की सारी स्थितिया बहुत ही रोचक थीं। तीर्थंकर ऋषभदेव को उस समय अज्ञ जनता को प्रशिक्षित करने के लिए किस प्रकार श्रम तथा प्रज्ञा का उपयोग करना पड़ता था, यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उसे एक तरह से आदिकालीन सभ्यता कहा जा सकता है।

★ तीर्थंकर ऋषभदेव योग - प्रवर्तक भी थे, बहुधा यह अज्ञात ही रह जाता है। कैलाश की तराइयों में उन्होंने जिस प्रकार से साधना की वह अत्यन्त रोमाचक होने के साथ-साथ अनेक पद्धतियों की आविर्भावक भी थीं। उनके माता पिता के नाम (मेरु और नाभि) भी योग से सम्बद्ध हैं। अर्थात् नाभि और मेरु से उत्पन्न होने वाला ऋषभ है। जो नाभि और मेरु से उत्पन्न होगा, वह विशेष ऊर्जा - सम्पन्न होगा। वह ऊर्जा चेतन की ही हो सकती है, अतः वृषभ (श्रेष्ठ) है। श्रीमद्भागवत में ऋषभदेव की योग–चर्या की विस्तृत चर्चा है। अब तक श्री ऋषभदेव को योग - पुरुष के रूप में चित्रित नहीं किया गया है। जब यह उपक्रम सफल होगा, अवश्य ही तीर्थंकर ऋषभदेव का यथार्थ अंकन हो पायेगा।

२५ दिसम्बर ७४
वाराणसी

मुनि महेन्द्र कुमार 'प्रथम'

: १ :

जैन वाङ्मय में

क्रम-ह्रासवाद और क्रम-विकासवाद

सृष्टि का कभी आत्यन्तिक नाश नही होगा, अत. उसके रचना-काल का प्रश्न उठता ही नही । वह शाश्वत है । क्रम-ह्रासवाद व क्रम-विकासवाद के आधार पर समय व्यतीत होता है, युग बनते हैं और उनसे इस विश्व मे क्रमशः अवसर्पण (अपकर्ष) और उत्सर्पण (उत्कर्ष) होता है । जैन शास्त्रो के अनुसार द्वापर, त्रेता, सतयुग और कलियुग की तरह सामूहिक परिवर्तन को 'कालचक्र' के नाम से अभिहित किया गया है । कालचक्र के मुख्यत दो विभाग हैं—अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी । दोनो ही विभाग फिर छ-छ. भागो मे विभक्त होते है । अवसर्पिणी के छ विभागो के नाम हैं—१ एकान्त सुषमा, २. सुषमा, ३. सुषम-दु षमा, ४. दु षम-सुषमा, ५ दु षमा और ६. दु षम-दु षमा । उत्सर्पिणी मे इनका व्यतिक्रम होता है । इन छ विभागो को 'आरा' भी कहा जाता है । अवसर्पिणी मे वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, सहनन, आयुष्य, शरीर, सुख आदि की क्रमश. अवनति होती है और उत्सर्पिणी मे उन्नति । जब उन्नति चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तब अवनति आरम्भ होती है और जब अवनति चरम सीमा पर पहुँच जाती है, तब उन्नति आरम्भ होती है । अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के आरम्भ से एक तरह की नई सृष्टि का आरम्भ होता है और समाप्ति होने पर समाप्ति ।

अवसर्पण की आदि सभ्यता

अवसर्पण की आदि सभ्यता का वर्णन शास्त्रकारो ने अत्यन्त रोचक किया है। उन्होंने एक-एक पहलू पर विस्तार से प्रकाश डालते हुए लिखा है—प्रथम विभाग एकान्त सुषमा मे मनुष्यो का आयुष्य तीन पल्य का होता था और उनका शरीर तीन क्रोश-परिमाण। उनका समचतुरस्र सस्थान होता था और वज्रऋषभनाराच सहनन। वे अपक्रोध, निरभिमान, निश्छद्म, अवितृष्ण, विनीत, भद्र, भोज्य व भक्ष्य पदार्थों का सग्रह न करने वाले, सन्तुष्ट, औत्सुक्य-रहित और सर्वदा धर्मपरायण होते थे। उस समय भूमि अत्यन्त स्निग्ध थी और मिट्टी चीनी से भी अतिशय मिष्ट; अत नदियों में पानी भी मधुर व निर्मल ही होता था। पदार्थ स्निग्ध थे, अत. बुभुक्षा भी अल्प थी। चौथे दिन केवल तुअर की दाल के प्रमाण थोडा-सा भोजन करते थे। यौगलिक व्यवस्था थी। माता-पिता की मृत्यु के छ मास पूर्व एक युग्म पैदा होता था और वही आगे चल कर पति-पत्नी के रूप मे परिवर्तित हो जाता था। विवाह, पूजन, प्रेतकार्य आदि नही थे, अत व्यग्रता भी नही थी। पति-पत्नी के अतिरिक्त कोई सम्बन्ध नहीं था। किसी भी प्रकार की सामाजिक स्थिति भी नही थी। मनुष्य केवल युगल रूप मे व्यष्टि ही था। कर्म-युग था, पर, कर्म-युग का प्रवर्तन नही हुआ था।

विकार अत्यल्प थे। जीवन की आवश्यकताएँ बहुत सीमित थी। खेती, सेवा व व्यापार के आधार पर आजीविका चलाने की कोई आवश्यकता न थी। बुभुक्षा और प्यास की शान्ति, वस्त्र, मकान व पात्र की पूर्ति, प्रकाश व अग्नि के अभाव की पूर्ति, मनोरंजन व आमोद-प्रमोद के साधनो की उपलब्धि आदि जीवन की अनिवार्य आवश्यकताएँ दस प्रकार

के कल्प[1] वृक्षो से पूर्ण होती थी । इस प्रकार के वृक्षो को इस्लाम धर्म मे द्रस्त तोवे और क्रिश्चियन धर्म मे स्वर्गीय वृक्ष (Celestial tree) कहा गया है । अमेरिका[2] मे अब भी ऐसे वृक्ष पाये जाते है, जिन्हे मिल्क ट्री, ब्रैड ट्री, लाइट ट्री आदि के नाम से पुकारा जाता है ।

जन-संख्या बहुत कम थी और जीवन-यापन के साधन प्रचुर मात्रा में थे; अत कलह, वैमनस्य या स्पर्धा नही होती थी । किसी के परस्पर स्वार्थ नहीं टकराते थे, अत: कुल, जाति या वर्ग भी नही बने । ग्राम या राज्य की तो कोई अवश्यकता भी न थी । सभी स्वेच्छाचारी व वनवासी थे । कोई शासक या शासित नही था और न कोई भी शोषक या शोषित । दास, प्रेष्य, कर्मचारी व भागीदार भी नही होते थे ।

असत्याचरण, लूट-खसोट, लड़ना-झगडना व मार-काट नही थे । अब्रह्मचर्य सीमित था । नैसर्गिक आनन्द और शान्ति थी । धर्म और उसके प्रचारक भी नहीं थे । जीवन सहज धार्मिक होता था । विश्वासघात,

---

१ मद्याङ्ग वृक्ष—शारीरिक पौष्टिक पदार्थ,
भृताङ्ग वृक्ष—भाजन,
तूर्याङ्ग वृक्ष—विविध वाद्य,
दीपाङ्ग वृक्ष—दीपक का प्रकाश,
ज्योतिष्क वृक्ष—सूर्य या अग्नि का कार्य,
चित्राङ्ग वृक्ष—पुष्प,
चित्ररस वृक्ष—विविध भोजन,
मण्यङ्ग वृक्ष—आभूषण,
गेहकार वृक्ष—मकान की तरह आश्रय,
अनग्न वृक्ष—वस्त्र की पूर्ति ।
—समवायाग सूत्र, सू० १०

२. जैन मतसार पृ०, १२

प्रतिशोध, पिशुनता या आक्षेप आदि नही थे। हीनता और उच्चता के भावो का भी अभाव था। सफाई करने वाला वर्ग भी नही था।

हाथी, घोडे, बैल, ऊँट आदि सभी प्रकार के पशु होते थे, पर, मनुष्य उन्हें वाहन के रूप मे प्रयुक्त नहीं करता था। गाय, भैंस, बकरी आदि दुधारू पशु भी होते थे, पर, उनका दूध नही निकाला जाता था, अत. किसी ने दूध का स्वाद भी कभी नहीं चखा था। गेहूँ, चावल आदि धान्य विना बोये ही उगते थे, पर, उन्हे उपयोग मे ही नही लाया जाता था। सिंह, व्याघ्र आदि हिंसक प्राणी भी किसी पर हमला नही करते थे। किसी प्रकार के शस्त्र भी नही थे। जीवन वहुत लम्बे होते थे। असामयिक मृत्यु नही होती थी। श्वास, ज्वर व महामारी आदि छोटी व बडी किसी प्रकार की भी व्याधि नहीं होती थी। इस प्रकार चार कोटाकोटि सागर[1] का एकान्त सुषमा नामक प्रथम विभाग समाप्त हुआ।

सभ्यता मे परिवर्तन

अवसर्पिणी कालचक्र का दूसरा और लगभग तीसरा विभाग भी क्रमश वीत गया। सभी बातें ह्रासोन्मुख होने लगीं। पृथ्वी का स्वभाव, पानी का स्वाद, पदार्थों की यथेच्छ उपलब्धि क्रमश कम होती गई। आयुष्य भी तीन पल्य के स्थान पर दो पल्य व एक पल्य का हो गया। भोजन की आवश्यकता भी तीसरे व दूसरे दिन होने लगी। शरीर का परिमाण भी घटने लगा। कल्प वृक्षो ने भी आवश्यकताएँ पूर्ण करना कुछ कम कर दिया।

तृतीय विभाग लगभग समाप्त हो रहा था। एक पल्य का केवल आठवा भाग अवशिष्ट था। यौगलिक व्यवस्था डोलने लगी। सरलता निरभिमान व निश्छद्म के स्थान पर जीवन मे कुटिलता, अहं व छद्म प्रविष्ट होने लगे। कल्प वृक्षो के द्वारा अभीप्सित मिलना वहुत अल्प हो

---

१. दश कोटाकोटि पल्य का एक सागर होता है।

गया। भूमि की स्निग्धता व मधुरता मे भी और अन्तर आ गया। आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं और उनकी पूर्ति के लिए संग्रह-वृत्ति भी बढ़ी। जब अनिवार्य आवश्यकताएँ पूर्ण न हुई तो वाद-विवाद, लूट-खसोट व छीना-झपटी भी बढी। सहज रूप मे उगने वाले धान्य का भोजन के रूप मे उपयोग होने लगा। क्षमा, शान्ति व सौहार्द आदि सहज गुण वदल गये। अपराधी मनोभावना के वीज अकुरित होने लगे। असंख्य वर्षों के वाद ऐसी परिस्थिति हुई थी।

समष्टि जीवन के आरम्भ के निमित्त

अव्यवस्था व अपराध न हो, इसके लिए मार्ग खोजे जाने लगे। अपनी-अपनी सुरक्षा के लिए अपने से समर्थ का आश्रय लिया जाने लगा। एक-दूसरे की निकटता वढी और उसने सामूहिक जीवन जीने के लिए विवश कर दिया। उस सामूहिक व्यवस्था को 'कुल' के नाम से कहा गया।

तन्त्र के आरम्भ की आदि घटना व वाहन का उपयोग

मनुष्यो में अहवृत्ति जागृत होने लगी थी, अतः उस 'कुल' का मुखिया कौन हो, यह प्रश्न भी सामने आया। पद-लिप्सा भडकने लगी थी, परन्तु, उसके लिए किसी प्रकार का विग्रह उचित नही समझा जाता था। किसी सहज मार्ग की गवेषणा की जा रही थी। एक दिन एक विशेष घटना घटी। एक युगल स्वेच्छया वन मे भ्रमण कर रहा था। सामने से एक उज्ज्वल व वलिष्ठ हाथी आ गया। दोनो की आखें मिलीं। हाथी के हृदय मे युगल के प्रति सहज स्नेह जागृत हुआ। उसे अपने गत भव की स्मृति हुई, जिससे उसने जाना, हम दोनो ही पश्चिम महाविदेह क्षेत्र मे वणिक् पुत्र थे और दोनो मे घनिष्ठ मैत्री थी। यह सरल था, अतः यहाँ मनुष्य रूप मे उत्पन्न हुआ है और मैं धूर्त—मायाचारी था; अतः इस पशु-योनि मे आया हुआ हूँ। उसने अपने मित्र को, उसके न चाहने पर भी अपनी पीठ पर बैठा लिया। अन्य युगलो ने जब इस घटना को

देखा तो उन्हे बहुत आश्चर्य हुआ; क्योकि इस अवसर्पण काल मे यह युगल ही सर्वप्रथम वाहनारूढ़ हुआ था। हाथी बहुत विमल था, अतः उस युगल का नाम भी विमलवाहन प्रसिद्ध हो गया तथा उसे ही प्रथम कुलकर के पद पर आसीन किया गया। इस प्रकार कुलकर की नियुक्ति हो जाने से सभी युगल विमलवाहन के आदेश को मानते और वह सबको व्यवस्था देता।

दण्ड-नीति की आवश्यकता

अपराधी मनोवृत्ति बढ़ती हुई कुछ रुकी। किन्तु, व्यवस्था देने मात्र से ही स्थिति नियन्त्रित न हुई। कुछ दण्ड-नीति की भी आवश्यकता अनुभव की गई। इससे पूर्व कोई दण्ड-व्यवस्था नही थी। उस स्थिति को निम्न श्लोक से अभिव्यक्त किया जा सकता है :

नैव राज्य, न राजासीत्, न दण्डो, न च दाण्डिकः।
धर्मणैव प्रजाः सर्वा, रक्षन्तिस्म परस्परम्।

विमलवाहन के समय यह स्थिति बदल गई। कल्प वृक्षो ने अभीप्सित प्रदान करना लगभग बन्द कर दिया, अत. युगलो का उन पर अत्यधिक ममत्व बढने लगा। एक युगल द्वारा अधिकृत कल्प वृक्ष का दूसरे युगल द्वारा बलात् उपयोग होने लगा और इस प्रकार व्यवस्था-भंग होने से विग्रह बढ़ने लगे। विमलवाहन ने सबको एकत्रित किया और अपने ज्ञान-वैशिष्ट्य से झगड़ा टालने की दृष्टि से, कुटुम्बियो मे जिस तरह सम्पत्ति बांटी जाती है, कल्प वृक्षो का बटवारा कर दिया।

हाकार नीति

कुछ दिन तक व्यवस्था ठीक चलती रही, पर, इसका भी अतिक्रमण होने लगा। विमलवाहन ने इसके प्रतिकार के लिए दण्ड-व्यवस्था का आरम्भ किया। सर्वप्रथम हाकार नीति का प्रचलन हुआ। अपराधी को

खेदपूर्वक कहा जाता—'हा ! तुमने यह किया ?' अपराधी पानी-पानी हो जाता। उस समय इतना कथन भी मृत्यु-दण्ड का काम करता था। कुछ दिनो तक यह व्यवस्था चलती रही। अपराध भी कम होते, व्यवस्था भी बनी रहती। किन्तु, आवश्यकताओ की पूर्ति के अभाव में धीरे-धीरे अपराध बढ़ने लगे और प्रचलित दण्ड-व्यवस्था भी लोगो के लिए सहज बन गई।

माकार नीति

विमलवाहन के बाद उसका ही पुत्र चक्षुष्मान् दूसरा कुलकर हुआ। वह भी अपने पिता की तरह ही व्यवस्थाए देता रहा। कभी अपराध बढते और कभी कम होते। 'हाकार' दण्ड से सब कुछ ठीक हो जाता। चक्षुष्मान् के बाद जब उसका पुत्र यशस्वी तृतीय कुलकर बना, तब वैमनस्य, प्रतिशोध व अन्य अपराध भी बढते गए। यशस्वी ने यह सोचकर कि एक औषधि से यदि रोगोपशान्ति नही होती तो दूसरी औषधि का प्रयोग करना चाहिए, 'माकार नीति' का प्रचलन किया। अपराधी से कहा जाता—'और कभी ऐसा अपराध मत करना'। अल्प अपराधी को 'हाकार' और भारी अपराधी को 'माकार' का दण्ड दिया जाता।

धिक्कार नीति

यशस्वी और चतुर्थ कुलकर अभिचन्द्र के समय तक उक्त दो दण्ड-व्यवस्थाओ से ही काम चलता रहा। पाचवें कुलकर प्रसेनजित् को फिर इसमे परिवर्तन करना पडा। अपराधों की गुरुता बढती जा रही थी। प्रारम्भ मे जिसे महान् अपराध कहा जाता, इस समय तक वह तो सामान्य कोटि मे आ चुका था। युगल कामार्त्त, लज्जा व मर्यादा-विहीन होने लगे, इसलिए प्रसेनजित् ने हाकार और माकार के साथ 'धिक्कार नीति' का प्रचलन किया। इस दण्ड-व्यवस्था के अनुसार अपराधी को इतना और कहा जाता—'तुझे धिक्कार है, जो इस तरह के काम करता है'।

इसने पुनः मर्यादाएं स्थापित हुईं। युगल भीत रहते और अपराध करते हुए सकुचाते। छठे मरुदेव और सातवें नाभि कुलकर तक यह व्यवस्था चलती रही। नाभि कुलकर की पत्नी का नाम मरुदेवा था। शास्त्रों में प्रत्येक कुलकर का नाम, उसकी पत्नी का नाम व उसके वाहन के रूप में हाथी का विशद विवेचन किया गया है।

कुलकर के पर्यायवाची नामों में मनु,[1] कुलधर व युगादिपुरुष भी प्रसिद्ध हैं। जिस प्रकार कुल—सधीय जीवन बिताने की शिक्षा देने से वे कुलकर कहलाये थे; उसी प्रकार आजीविका के नाना साधन बताने से मनु, कुलों की व्यवस्थित स्थापना से कुलधर तथा इस युग के आदि पुरुष होने से युगादिपुरुष कहलाये।

दिगम्बर परम्परा के अनुसार जब तीसरा आरा समाप्ति पर था, कल्प वृक्षों का तेज घटने लगा। पृथ्वी पर सहज प्रकाश की अल्पता हुई तो सूर्य, चन्द्र दिखाई देने लगे। इससे जनता भयभीत हुई, किन्तु, जब प्रथम कुलकर ने सूर्य, चन्द्र दिखने का कारण स्पष्ट किया, तो भय भी दूर हुआ। सूर्य, चन्द्र का दिखना उस समय के परिवर्तनों में सबसे बड़ा व पहला परिवर्तन था। असंख्य वर्षों के बाद ताराओं का प्रकटीकरण हुआ। पृथ्वी पर पर्वत, नदियां भी दिखने लगीं। अब तक जो पशु शान्त वृत्ति वाले थे, वे हिंसक वृत्ति धारण करने लगे। इस प्रकार के भयानक वातावरण को देखकर लोग डरने लगे। कुलकरों ने समय-समय पर रक्षात्मक उपाय लोगों को बताये। उन्होंने हाथी, घोड़े और अन्य प्राणियों को वश में करने के प्रकार, पर्वत पर चढ़ने और नदियों को तैरने के प्रकार भी बतलाये।[2] पउमचरिउ के अनुसार यह घटना

1. आदि पुराण, पर्व ३ श्लोक २११
2. विस्तार के लिए देखें, महापुराण—पर्व ३, श्लो० ५५ से २०६

सातवें कलकर श्री चक्षुष्मान् के समय पर हुई थी।[1]

कुलकरों की संख्या

कुलकरो की संख्या के बारे मे मत-भिन्नता है। श्वेताम्बर अंग साहित्य—ठाणाग सूत्र[2], समवायाग[3] सूत्र तथा भगवती[4] सूत्र मे सात कुलकरो का उल्लेख पाया जाता है; जिसकी पुष्टि आवश्यक[5] चूर्णि, आवश्यक[6] निर्युक्ति व त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित[7] आदि मे उत्तरवर्ती आचार्यों

---

१. सत्तमु चारु-चक्खु चक्खुब्भउ। तासु काले उप्पज्जइ विम्भउ।
सहसा चन्द दिवायर-दंसणे। सयलु विजणु आसङ्किउ णिय-मणे।
'अहो परमेसर कुलयर सारा। कोउहल्लु गहु एउ भडारा।
तं णिसुणेवि णराहिउ घोसइ। कम्म-भूमि भलइ एवहि होसइ।
पुव्व-विदेहे तिलोआणन्दे। कहिउ आसि महु परम जिणिन्दे।
—पउमचरिउ, पढमो सधि, पृ० १८

२. जबुद्दीवे २ भारहे वासे ओसप्पिणीए सत्त कुलगरा हुत्था—पढमित्थ १ विमलवाहण २ चक्खुम ३ जसम ४ चउत्थमभिचदे। तत्तोय ५ पसेणइ पुण ६ मरुदेवे चेव ७ नाभी य।
—ठाणाग सूत्र, ठा० ७, उ० ३

३. समवायाग सूत्र, सम० १५७

४. जम्बूदीवेणं भन्ते! इह भारहवासे इमीसे उसप्पिणीए समाए कइ कुलगरा होत्था? गोयमा! सत्त। —भगवती सूत्र, श०५, उ०५

५. पत्र १२९

६. पृ० २४, श्लो० ८१

७. पर्व १, सर्ग २, श्लो० १४२-२०६

ने की है। उपांग साहित्य—जम्बूदीपपण्णत्ति[1] में पन्द्रह कुलकर बताए गये हैं। पउमचरिय[2] मे विमलसूरि ने चौदह कुलकर माने हैं। दिगम्बर परम्परा मे चौदह कुलकर माने गये हैं, किन्तु, नामो मे वहाँ भिन्नता मिलती है। महापुराण[3] मे आचार्य जिनसेन ने जिन चौदह कुलकरो के नामो का उल्लेख किया है। महाकवि स्वयम्भूरचित पउमचरिउ[4] मे वे

---

१. तीसे ण समाए पच्छिमे तिभाए पलिओवमट्ठभागावसेसे एत्थ णं इमे पण्णरस कुलगरा समुप्पज्जित्था, तजहा— १. सुमई २. पडिस्सुई ३. सीमंकरे ४. सीमधरे ५. खेमकरे ६. खेमंधरे ७. विमलवाहण ८. चक्खुमं ९. जसमं १०. अभिचन्दे ११ चंदाभे १२. पसेणई १३. मरुदेवे १४ णामी १५. उसभे।

—जम्बूदीपपण्णत्ति, वक्षस्कार २, सूत्र २८

२. उद्देसा ३, श्लो० ५०-५५

३. खण्ड १, पृ० ५१-५६ पर उल्लिखित १४ कुलकरो के नाम इस प्रकार हैं : १. प्रतिश्रुति, २. सुमति, ३. क्षेमंकर, ४. क्षेमन्धर, ५. सीमंकर, ६. सीमन्धर, ७. विमलवाहन, ८ चक्षुष्मान्, ९. यशस्वान्, १० अभिचन्द्र, ११. चन्द्राभ, १२ मरुदेव, १३. प्रसेनजित् और १४. नाभि।

४ पहिलउ पहु पडिसुइ सुयवन्तउ। बीयउ सम्मइ सम्मवत्तउ।
तइयउ खेमङ्करु खेमङ्करु। चउथउ खेमन्धरु रणे दुद्धरु।
पञ्चमु सीमङ्करु दीहर-करु। छट्ठउ सीमन्धरु धरणीधरु।
सत्तमु चारु-चक्खु चक्खुब्भउ। तासु काले उप्पज्जइ विम्भउ।
पुणु जाउ जसुम्मउ अतुल थामु। पुणु विमलवाहणुच्छलिय-णामु।
पुणु साहिचन्दु चन्दाहि जाउ। मरुएउ पसेणइ णाहिराउ।
१. प्रतिश्रुति, २ सुमति, ३. क्षेमकर, ४ क्षेमधर, ५. सीमकर, ६ सीमधर, ७ चक्षुष्मान्, ८ यशस्वी, ९. विमलवाहन, १० अमृत, ११. चन्द्राम, १२ मरुदेव, १३. प्रसेनजित्, १४ नाभि।

—पढमो संधि, पृ० १८-१९

कुछ भिन्न हैं; किन्तु, दिगम्बर परम्परा में अधिक मान्यता जिनसेन द्वारा उल्लिखित नामों को ही मिली है। प्रश्न यह उपस्थित होता है कि दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्परा मे तो यह अन्तर हो सकता था, पर, श्वेताम्बर परम्परा के अंग साहित्य व उपाग साहित्य मे यह अन्तर क्यो हुआ ? प्रश्न प्राचीन है और उसे समाहित करने के लिए पूर्व आचार्यों ने भी विभिन्न तर्क प्रस्तुत की हैं। श्री जम्बूदीपशान्तिचन्द्रीय[1] वृत्ति में कहा गया है: "पुण्य पुरुषों के अधिकाधिक वंशजो का वर्णन होना चाहिए।" हीरप्रश्न[2] वृत्ति में इसी तर्क को समाहित करने के लिए नाना पक्ष उपस्थित किये गए हैं। वहाँ लिखा गया है, "कुलकर दो प्रकार के होते हैं; कुलकर-कार्य में नियुक्त और स्वतन्त्र प्रवृत्त। स्थानाग आदि मे विमलवाहन आदि का जो उल्लेख मिलता है, वहाँ नियुक्त कुलकरों की अपेक्षा से है और जम्बूदीपपण्णत्ति मे 'कुलकर का कार्य करने वाले कुलकर होते हैं' इस अभिप्राय से दोनो प्रकार के कुलकरो को ग्रहण कर पन्द्रह बताये गये हैं।" उन्होंने इस मत की पुष्टि मे श्री जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की 'विशेषणवती'[3] को भी उद्धृत किया है, किन्तु, वे यह भी मानते हैं कि 'विशेषणवती' की सगति समुचित नही है। उसमे कुछ प्रश्न उपस्थित होते हैं। उदाहरणार्थ—"पन्द्रह[4] कुलकरो की व्यवस्था मे प्रथम कुलकर सुमति के समय से पंचम क्षेमकर के समय तक हाकार दण्ड था। षष्ठ कुलकर क्षेमन्धर से दशम कुलकर अभिचन्द्र के समय तक माकार दण्ड था और एकादशम कुलकर चन्द्राभ से पन्द्रहवें कुलकर ऋषभ के

---

१. वक्षस्कार २, पत्र स० १३३ १

२ जम्बूदीपपण्णत्ति वृत्ति, वक्षस्कार २, पत्र स० १३३-१ दि०

३ सत्तगहणेण जे विमलवाहणाई परेण से ण सगहिआ।
अणिओत्तिट्ठिअ ते कुलगरत्तण जेण कयवतो।
पण्णरस कुलगरत्तणसामण्णओत्ति तेवि सगहिआ।

४. जम्बूदीपपण्णत्ति, वक्षस्कार २, पत्र सख्या १३३-२, १३४-१, सूत्र सं० २९।

समय तक धिक्कार दण्ड था। सात कुलकरो की व्यवस्था मे "प्रथम[1] और द्वितीय कुलकर विमलवाहन व चक्षुष्मान् के समय हाकार दण्ड था। यशस्वी और अभिचन्द्र के समम अल्प अपराधी के लिए हाकार दण्ड और भारी अपराधी के लिए माकार दण्ड था। प्रसेनजित, मरुदेव नाभि कुलकर के समय जघन्य अपराधी के लिए हाकार दण्ड, मध्यम अपराधी के लिए माकार दण्ड तथा उत्कृष्ट अपराधी के लिए धिक्कार दण्ड था।" दोनो व्यवस्थाओ की युगपत् समीक्षा से यह तथ्य आविर्भूत होता है कि पन्द्रह कुलकरो की व्यवस्था के अनुसार विमलवाहन व चक्षुष्मान् के समय दूसरी दण्ड-व्यवस्था होती है, जबकि स्थानाग सूत्र के अनुसार प्रथम दण्ड-व्यवस्था। जिन छ कुलकरो के लिए 'नियुक्त' शब्द का प्रयोग न होकर 'स्वतन्त्रप्रवृत्त' कहा जाता है, उनके समय मे यदि किसी दण्ड-व्यवस्था का आरम्भ नही होता तो यह कथन युक्ति-संगत हो सकता था, किन्तु, ऐसा माना नही गया है। यही तर्क चौदह कुलकरो की परम्परा के बारे मे भी दी जा सकती है। कुछ आचार्य इस संख्या-भेद को वाचाना[2]-भेद भी मानते हैं।

भगवान् ऋषभदेव की कुलकरो में गणना इतनी यथार्थ प्रतीत नही होती। नाभि कुलकर के समय में ही ऋषभदेव का राजा के रूप में अभिषेक हो चुका था। एक कुलकर की वर्तमानता मे दूसरा कुलकर कैसे हो सकता है तथा पूर्व कुलकर के समय में ही जब ऋषभदेव का राज्याभिषेक हो जाता है, तब वे कुछ समय के लिए भी कुलकर-पद पर आसीन हुए होंगे, यह भी कैसे माना जा सकता है। जहां उनके लिए कुलकर का उल्लेख किया गया है, उसके अनन्तर ही उन्हे 'पढ़म केवली,

१ पढमबीयाण पढमा तइयचउत्थाण अभिणवा बीया।
पंचमछट्ठस्स य सत्तमस्स तइया अभिणवा उ॥
—स्थानागसूत्र वृत्ति, स्था० ७, उ० ३

२. क. हीरप्रश्न वृत्ति
ख तीर्थंकर महावीर, भाग १, पृ० २२

पढ़म जिणे' के साथ 'पढ़म[1] राया भी माना गया है। यदि वे प्रथम राजा हैं तो कुलकर कैसे हो सकते थे ? उनका समय तो यौगलिक सभ्यता तथा मानवीय सभ्यता का सन्धि-काल था, अत· उन्हे यौगलिक परम्परा का वाहक कैसे कहा जा सकता है ? उनकी कुमारावस्था तक ही यौगलिक व्यवस्था चली थी। उसके बाद तो राज्य-व्यवस्था का विधिवत् श्रीगणेश हो गया था। तेरापथ के प्रवर्तक आचार्य भिक्षु ने भगवान् ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत के कुलकर होने का प्रतिवाद किया है। उन्होने यौगलिक परम्परा व सामाजिक परम्परा की सीमा-रेखा का अकन करते हुए स्पष्ट लिखा है . "भगवान् ऋषभदेव ने कुमार अवस्था के अनन्तर राजा बनते ही यौगलिक धर्म-परम्परा को समाप्त किया।"[2]

आचार्य जिनसेन ने महापुराण[3] मे भगवान् ऋषभदेव व चक्रवर्ती भरत को यद्यपि कुलकर, कुलधर व मनु के नाम से अभिहित किया है, किन्तु उसके साथ ही उन्हे तीर्थंकर व चक्रवर्ती भी माना है। इससे स्पष्ट है कि उस समय प्राचीन परम्परा विच्छिन्न प्राय हो चुकी थी, नवीन परम्पराओं का श्रीगणेश हो रहा था। जन-मानस प्राचीन परम्पराओ के संस्कार से सहसा विलग नही हो रहा था और नई परम्पराएँ शीघ्रता से हृदय में उतर नही रही थी, अत दोनो नामो से वहाँ अभिहित किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है। वास्तविकता यह है कि उस समय कुलकर

---

१ म्बूजीपपण्णत्ति, वक्षस्कार २, पत्र स० १३५-१, सूत्र सं० ३०

२ पछै जुगलिया धर्म दूरो करी, राज बैठा छैं मोटे मडाण।
—भिक्षुग्रन्थ-रत्नाकर, खण्ड २, रत्न १७, भरतचरित्र, ढाल १, गा० ५

३. वृषभस्तीर्थकृच्चैव कुलधृच्चैव संमत·।
भरतश्चक्रधृच्चैव कुलधृच्चैव वर्णित ॥ २१३
वृषभो भरतेशश्च तीर्थचक्रभृती मनू। २३२ —महापुराण, पर्व ३

व्यवस्था से आगे समाज-व्यवस्था व राज्य-व्यवस्था का प्रवर्तन हो चुका था और व्यष्टि समष्टि मे परिवर्तित होने लगी थी। नाना प्रकार के सामाजिक नियमन भी बन चुके थे। कुलकर-व्यवस्था मे जहाँ कल्प वृक्षो द्वारा आवश्यकताएँ पूर्ण होती थी, वहाँ ऋषभदेव के समय से ऐसा होना समाप्त हो गया था। क्रमश असि, मषि, कृषि का विकास हो गया था और उसके आधार पर ग्राम-निर्माण, शासन-प्रणाली, दण्ड-व्यवस्था, वैवाहिक सम्बन्ध व उग्र, भोग, राजन्य, क्षत्रियो के कार्यों का विभाजन भी हो चुका था। इन विभिन्न आधारो से सहज निष्कर्ष निकलता है कि नाभि अन्तिम- कुलकर थे और श्री ऋषभदेव मानवीय सभ्यता के आदि सूत्रधार।

जैन परम्परा के कुलकरो की तरह वैदिक परम्परा मे भी सात मनु माने गये हैं। मनुस्मृति, अध्याय १, श्लो० २२-२३ में उनके नाम हैं : १. स्वायम्भू, २. स्वारोचिष, ३. उत्तम, ४ तामस, ५. रैवत, ६. चाक्षुष और ७. वैवस्त। कुछ वैदिक शास्त्रो मे सात भावी मनु भी बताए गये हैं। उनके नाम इस प्रकार हैं· १. सावर्णि, २. दक्षसावर्णि, ३. ब्रह्मसावर्णि, ४. धर्मसावर्णि, ५. रुद्रसावर्णि, ६. रौच्यदेवसावर्णि और ७. इन्द्रसावर्णि।

कर्मयुग का आरम्भ

अन्तिम कुलकर नाभि के समय यौगलिक सभ्यता क्षीण होने लगी। यह समय यौगलिक सभ्यता व मानवीय सभ्यता का सन्धि-काल था। आयु, सहनन, सस्थान व शरीर-परिमाण आदि घटने लगे थे। तृतीय विभाग सुषम-दुषमा समाप्त होने मे केवल चौरासी हजार वर्ष अवशिष्ट थे। नाभि कुलकर के घर पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई। माता ने चौदह स्वप्न देखे। उनमे प्रथम स्वप्न वृषभ का था। शिशु के वृक्ष.स्थल पर वृषभ का लांछन भी था। वे सब मे वृषभ—श्रेष्ठ थे, अत. उनका नाम वृषभनाथ—ऋषभदेव रखा गया। आगे चलकर समाज-व्यवस्था, राज्य-व्यवस्था व धर्म-

व्यवस्था के आदि प्रवर्तक होने से वे आदिनाथ के नाम से भी विश्रुत हुए। सहजात कन्या का नाम सुमङ्गला रखा गया।

वंश-उत्पत्ति व उनके नामकरण

ऋषभदेव जब कुछ कम एक वर्ष के हुए, वंश का नामकरण किया गया। इन्द्र स्वयं इस कार्य के लिए आया। उसके हाथ मे गन्ना था। ऋषभदेव उस समय नाभि कुलकर की गोद मे थे। इन्द्र के अभिप्राय को जानकर उन्होने उसे लेने के लिए हाथ बढाया; अतः वह वंश इक्षु+आकु (भक्षणे)=इक्ष्वाकु वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। पहला इक्ष्वाकु वंश बना, ऐसा इस आधार से कहा जा सकता है। इसी तरह एक-एक घटना विशेष को लेकर पृथक्-पृथक् समूहो के पृथक्-पृथक् वंश बनते गये और नामकरण होता गया।

अकाल मृत्यु

श्री ऋषभदेव का बाल्य-जीवन बहुत ही आनन्द से बीता। धीरे-धीरे बडे होने लगे। एक दिन विशेष घटना घटी। एक युगल अपने पुत्र व पुत्री को एक ताड वृक्ष के नीचे बैठाकर स्वय कदलीवन मे क्रीडा के लिए चला गया। दैवयोग से एक बडा फल टूटा और किसलय कोमल उस पुत्र पर पडा। उसकी असमय ही मृत्यु हो गई। यह पहली अकाल मृत्यु थी। यौगलिक माता-पिता ने अपनी उस लाडली कन्या का लालन-पालन किया। वह बहुत सुरूपा थी। उसके प्रत्येक अवयव से लावण्य टपकता था। कुछ महीनो बाद उसके माता-पिता का भी देहान्त हो गया। वह अकेली रह गई। उसका नाम सुनन्दा था। वह एकाकिनी यूथभ्रष्ट मृगी की तरह इधर-उधर भटकने लगी। कुछ युगलों ने कुलकर श्री नाभि के समक्ष यह सारा उदन्त कहा। श्री नाभि ने सुनन्दा को, यह कह कर कि यह ऋषभ की पत्नी होगी, अपने पास रख लिया।

विवाह-परम्परा

यौवन-प्रवेश पर ऋषभदेव का सहजात सुमङ्गला और सुनन्दा के साथ पाणि-ग्रहण हुआ। अपनी वहिन के अतिरिक्त दूसरी कन्या के साथ भी विवाह-सम्बन्ध हो सकता है, इसका यह पहला प्रयोग था। सुमङ्गला ने चवदह स्वप्न पूर्वक भरत व ब्राह्मी को जन्म दिया और सुनन्दा ने बाहुवली व सुन्दरी को। इसके वाद क्रमशः सुमङ्गला के अठानवे[1] पुत्र और हुए।

राज्य-व्यवस्था का आरम्भ

प्राचीन मर्यादाए विच्छिन्न होती जा रही थी। तीनो ही दण्ड-व्यवस्थाओ की उपेक्षा होने लगी, अत किसी भी प्रकार का नया विधान आवश्यक हो गया था। कल्प वृक्षो से प्रकृति-सिद्ध जो ईप्सित मिलता था, वह अपर्याप्त होने लगा। तृष्णा वढने लगी, आवेश उभरने लगा, अह जागृत होने लगा और छद्म खुलकर सामने आने लगा। शान्ति भंग होने लगी। जिन युगलो ने अपने जीवन मे कभी लड़ाई, या वैमनस्य नहीं देखा था, उन्हें यह वहुत ही बुरा लगा। वे इन स्थितियो से घवरा गये। एक दिन वे ऋषभदेव के पास पहुचे और सारी स्थिति उनसे निवेदित की। ऋषभदेव ने कहा—जो लोग मर्यादाओ का अतिक्रमण करते हैं, उन्हें दण्ड मिलना चाहिए। पहले भी ऐसा हुआ था और उसके प्रतिकार स्वरूप ही तीन प्रकार की दण्ड-व्यवस्थाओ का प्रचलन हुआ था। अपराध अधिक वढने लगे हैं; अत. उनके शमन व मर्यादाओ की रक्षा के निमित्त अन्य दण्ड-व्यवस्था का भी अविर्भाव होना चाहिए। यह सव कुछ तो राजा ही कर सकता है।

युगलो ने पूछा—राजा कौन होता है और उसके कार्य क्या होते हैं ?

ऋषभदेव ने कहा—विशिष्ट वुद्धि तथा शक्ति से सम्पन्न व्यक्ति राजा होता है। उसके पास आततायियो को दण्ड देने के लिए चार

---

१. पुत्रों के नाम देखें, परिशिष्ट, संख्या—१

प्रकार की सेना होती है। उच्च सिंहासन पर बैठा कर सर्वप्रथम उसका अभिषेक किया जाता है। वह अपने बुद्धि-कौशल से अन्याय का परिहार और न्याय का प्रवर्तन करता है। शक्ति के सारे स्रोत उसमे केन्द्रित होते हैं, अत वहा कोई मनमानी नही कर सकता।

हमारे मे तो आप ही सर्वाधिक बुद्धिशाली व समर्थ हैं, अतः आप ही हमारे राजा बनें। आपको अब हमारी उपेक्षा नही करनी चाहिए; युगलो ने कहा।

यह माग आप कुलकर श्री नाभि के समक्ष प्रस्तुत करें। वे आपको राजा देंगे, श्री ऋषभदेव ने युगलो से कहा। युगल मिल-जुलकर श्री नाभि के पास पहुचे और आत्म-निवेदन किया। नाभि ने ऋषभदेव को राजा घोषित किया। युगलो ने उसे सहर्ष स्वीकार किया और ऋषभदेव के सम्मुख आकर कहने लगे—नाभि कुलकर ने आपको ही हमारा राजा बनाया है।

युगलो ने अपूर्व आह्लाद के साथ ऋषभदेव का राज्याभिषेक किया। ऋषभदेव राजा बने और शेष जनता प्रजा। उन्होने पुत्र की तरह प्रजा का पालन आरम्भ किया। राजा बनने के बाद ऋषभदेव पर व्यवस्था-सचालन का विधिवत् दायित्व आ गया। सारी प्राचीन परम्पराएँ जर्जरित हो चुकी थी। आवास, भूख, शीत, ताप आदि की समस्याएँ आने लगी थी। अराजकता बढ रही थी। जनता अतिभद्र थी। वह किसी भी प्रकार का कर्म नही जानती थी। ऋषभदेव के सम्मुख यह जटिल पहेली थी, पर, उन्होने अपने ज्ञान-बल से उन सबका समाधान प्रस्तुत किया। आवास-समस्या के समाधान हेतु उस समय नगर व ग्राम बसाये गए। पहले-पहल अयोध्या का निर्माण हुआ और उसके अनन्तर अन्य नगरो व ग्रामों का। सज्जनो की सुरक्षा और दुर्जनो के दमन के निमित्त उन्होंने अपने मन्त्रि-मडल का निर्माण किया। चोरी, लूट-खसोट व दूसरो के अधिकारो का अपहरण न हो, इसके लिए आरक्षक वर्ग की स्थापना की। राज्य-शक्ति को कोई चुनौती न दे सके, इसके लिए गज, अश्व,

रथ व पादातिक, चार प्रकार की सेना एकत्रित की और सेनापति की नियुक्ति भी की। गौ, वलीवर्द, महिष, महिषी, खच्चर, ऊँट आदि पशुओं को भी उपयोगी समझ कर एकत्रित किया गया।

खाद्य-समस्या

इस समय तक युगलो का भोजन कल्प वृक्षो के अभाव मे कन्द, मूल, फल, पत्र, पुष्प आदि हो गया था। तृण की तरह स्वय उगने वाले चावल, गेहूँ, चने, मूँग आदि भी उनके भोजन मे सम्मिलित हो चुके थे। वनवास से गृहवास की ओर जव जनता का क्रम चला, कन्द, मूल, फल का भोजन भी अपर्याप्त व अपक्व चावल, चने, व गेहूँ का भोजन स्वास्थ्य के लिए अहितकर अनुभव होने लगा। सहज उत्पन्न अन्न को पकाना भी वे नही जानते थे और न पकाने के साधन भी उनके पास थे। अपक्व अन्न ग्रहण से अजीर्ण का रोग सताने लगा। युगल ऋषभदेव के पास अपनी व्यथा लेकर पहुँचे। उन्होंने कहा—अनाज को हाथ में मलकर उसके छिलके निकाल डालो और फिर उसे खाओ। यह व्याधि दूर हो जायेगी। लोगो ने वैसा ही किया। कुछ दिन वीते, किन्तु, अपक्व होने से वह अनाज भी दुष्पाच्य रहा और वही व्याधि पुन. सताने लगी। ऋषभदेव के पास फिर वही समस्या उपस्थित हुई। उन्होने समाधान दिया—हाथो से मलकर, पानी मे भीगोकर व पत्तो के दोनो मे रखकर खाओ। इससे तुम व्याधि से वच सकोगे। लोगो की ऋषभदेव पर पूरी श्रद्धा थी, अत उन्होने वैसा ही किया। कुछ दिन उस उपक्रम से काम चल गया, किन्तु, स्थायी समाधान नही मिला। फिर ऋषभदेव के सम्मुख ही वे आये और अपनी व्यथा सुनाने लगे। कुछ चिन्तन के वाद उन्होंने उत्तर दिया पूर्व विधि से अन्न तैयार कर कुछ देर मुट्ठी मे या वगल मे इस तरह रखो कि उमसे अन्न कुछ गर्म हो जाये। सभी ऐसा करने लगे। ऐसा करने पर भी उनका अजीर्ण नही मिटा, उदर-व्याधि वढती गई और लोग कमजोर होते गये।

अग्नि और पात्र-निर्माण का आरम्भ

कुछ दिन वीते। एक दिन एक विशेष घटना घटी। वंश वृक्षो के परस्पर टकराने से अग्नि प्रकट हुई। उसने भयकर रूप धारण कर लिया। तृण, काष्ठ व अन्य वस्तुएँ जलने लगी। ऐसा किसी ने कभी नहीं देखा था। लोगो ने उसे रत्न-राशि समझा और उसे लेने के लिए हाथ फैलाए। उनके हाथ जलने लगे। सारे ही भयभीत होकर अपने राजा के पास पहुँचे। ऋषभदेव बोले—अव स्निग्ध-रूक्ष काल आ गया है; अतः अग्नि प्रकट हुई है। एकान्त स्निग्ध समय मे अग्नि पैदा नही होती। इतने दिन अत्यन्त स्निग्ध समय था, अत. अन्न की पाचन-क्रिया मे भी दुविधा होती थी और उससे अजीर्ण होता था। अव यह दुविधा नही रहेगी। तुम लोग सव जाओ और पूर्व विधि से तैयार किए हुए अन्न को उसमे पका कर खाओ। उसके आस-पास जो भी घास-फूस व अन्य सामग्री हो, उसे हटा दो।

सरलाशय मनुष्य दौडे और उन्होने पकाने के लिए अग्नि मे अन्न रखा। किन्तु, अन्न तो सारा ही उसमे जलकर भस्म हो गया। वेचारे दौडे-दौडे फिर वही आये और कहने लगे—स्वामिन् ! वह तो विल्कुल भूखा राक्षस है। हमने उसके समीप जितना अन्न रखा, कुक्षिभरी की तरह अकेला ही सव कुछ खा गया। हमे तो उसने कुछ भी वापस नहीं किया।

ऋषभदेव ने उत्तर दिया—इस तरह नही। पहले तुम पात्र वनाओ, फिर उसमे अन्न पकाओ और खाओ।

जनता ने पूछा—स्वामिन् ! पात्र कैसे वनाये जायेंगे।

ऋषभदेव उस समय हाथी पर सवार थे। उन्होने आर्द्र मृत्तिका-पिण्ड मगवाया। हाथी के सिर पर उसे रखा, हाथ से थपथपाया और उसका पात्र वनाकर सबको दिखलाया तथा साथ मे शिक्षा भी दी कि इस विधि से तरह-तरह के पात्र वनाओ। उन्हे पहले अग्नि मे पकाओ और

तत्पश्चात् उनमे पूर्व विधि से निष्पन्न अन्न पकाकर खाओ। इस प्रकार पाक-विद्या के साथ-ही-साथ समाज मे पहला शिल्प कुम्भकार का प्रचलित हुआ।

अन्य शिल्प

अग्नि के आविर्भाव व कुम्भकार-शिल्प के आरम्भ के अनन्तर अन्य शिल्पो का मार्ग भी खुल गया। ग्रामो और नगरो का निर्माण तो आरम्भ हो ही गया था, पर, मनुष्य का उसमे कोई विशेष कौशल नही था। उस समय का मनुष्य सरल व कलाओ से अनभिज्ञ था तथा निर्दशित कार्य के अतिरिक्त विशेष कुछ कर भी नहीं सकता था। उसमे उसकी प्रतिभा की अल्पता व उपकरणो का सर्वथा अभाव; दोनो ही कारण प्रमुख थे। पात्र-निर्माण के साथ-ही-साथ गृह-निर्माण व उपकरण-निर्माण का शिल्प भी ऋषभदेव ने जनता को सिखाया।

काम की अल्पता मे समय की वहुलता भी होती थी। कभी-कभी श्रम करते हुए लोगो का मन उचट भी जाता था। जव परस्पर समवयस्क मिलते, मनोरंजन के लिए जी मचलने लगता। ऐसा कोई साधन भी नही था, अत॰ उसका अभाव भी खटकता रहता था। ऋषभदेव ने इन सव वातो को लक्षित कर लोगों को चित्र-शिल्प सिखलाया।

कल्प वृक्षो से भोजन की पूर्ति जव असम्भव हो गई, तो उसके साथ वस्त्र-अभाव भी खलने लगा। वल्कल वस्त्रो के अतिरिक्त अन्य प्रकार के वस्त्रो के निर्माण का लोगो को ज्ञान नही था, अत. जुलाहा वर्ग वनाया गया। उसे वस्त्र-निर्माण का प्रशिक्षण दिया गया और धीरे-धीरे उस अभाव को दूर किया गया।

ज्यों-ज्यो मनुष्य सामाजिक :वनता गया, त्यो-त्यो उसने अपने व्यवहार, रहन-सहन व शारीरिक क्रिया-कलापो मे भी परिवर्तन करना आरम्भ कर दिया। सिर व दाढ़ी के वढे हुए केश, नाखून आदि उन्हें वुरे

व अमनोज्ञ लगने लगे; अतः उस व्याधि से मुक्त करने के लिए नापित-शिल्प का प्रशिक्षण दिया गया।

पाचो शिल्पो के प्रसरण के साथ-ही-साथ इनके सूक्ष्म भेद भी होते गये और इस प्रकार प्रत्येक शिल्प के वीस-वीस अवान्तर भेद हो जाने से सौ प्रकार का शिल्प समाज मे प्रसिद्ध हो गया। इसके साथ घसियारे व लकडी वेचने का काम भी एक व्यवसाय वन गया। खेती-बाडी की व्यवस्थित पद्धति का व व्यापार के माध्यम से आवश्यक वस्तुओ की सुलभता के सर्वांगीण स्वरूप का प्रशिक्षण भी दिया गया।

लोगो की जव पारस्परिक समीपता अधिक वढी, तो एक-दूसरे के प्रभाव से किसी का दमन और किसी का आरोहण भी होने लगा। इसका व्यवस्थित विधान भी बन गया, जिसे आज की भाषा मे समाज-शास्त्र कहा जा सकता है। साम, दान, दण्ड और भेद के रूप मे उसका विकास हुआ और क्रमश. वह व्यवहार का माध्यम भी वन गया।

कृषि का प्रशिक्षण

भोज्य-सामग्री की पूर्ति पहले कल्प वृक्षो से होती थी। उस समय जनसंख्या भी अल्प थी और वातावरण की स्निग्धता के कारण भोजन की मात्रा भी कम व उसकी आवश्यकता भी कई दिनो से होती थी। ज्यो-ज्यो वातावरण स्निग्धता से रूक्षता मे वदलता गया, भूख भी शीघ्र लगने लगी और भोजन की मात्रा भी वढ़ गई। लोग सहज रूप से उगने वाले चावल, गेहूँ व तृण आदि को खाने लगे। किन्तु, कुछ समय बाद यह सामग्री भी अपर्याप्त व दुष्प्राप्य होने लगी। कल्प वृक्ष के सुस्वादु फलो के सम्मुख सहज उत्पन्न चावल, गेहूँ व अन्य अन्न नीरस लगने लगे थे, पर, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा चारा भी तो नही था। उस समय तक वर्षा भी पर्याप्त होती थी। वाढ़ व दुष्काल भी नहीं होते थे, किन्तु, खेती करना कोई नही जानते थे, अत अनाज की पैदावार नही थी। किसी के पास खेती करने के औजार—साधन भी नही थे। उन्हें बनाना

भी वे नही जानते थे। ऋषभदेव ने यह सिखाया। खेती के योग्य जमीन किस प्रकार तैयार की जाती है, किस तरह हल चलाये जाते हैं, किस प्रकार के बीज बोये जाते हैं, कितना पानी व खाद दिया जाता है, फसल उगने पर व तैयार होने पर क्या किया जाता है, आदि सब बातें उस समय के मनुष्यो को ऋषभदेव ने बताई। इसीलिए आगे चलकर वे 'कृषि के देवता' व 'कृषिराज' आदि के रूप में पूजे गये। कृषि-देवता के रूप मे उनकी जो मूर्तिया बनी, उनमें उनके शृंग भी दिखाये गये।

उस समय के लोग कितने भोले-भाले थे व उनको ऋषभदेव किस प्रकार प्रशिक्षित करते थे, जनश्रुति मे इसकी एक मनोरंजक घटना मिलती है। कृषि-सम्बन्धी सारा प्रशिक्षण दे देने के बाद लोगो ने प्रचुर मात्रा मे खेती करना प्रारम्भ किया। फसल अच्छी हुई। उसे काटा गया। समस्या उपस्थित हुई कि नधाई कैसे की जाये? लोगो ने अपना मस्तिष्क बहुत दौडाया, पर, कुछ भी नही सूझा। सारे ही मिलकर अपने स्वामी ऋषभदेव के समक्ष उपस्थित हुए और अपनी व्यथा कह सुनाई। ऋषभदेव ने उन्हे खलिहान की सारी विधि बतलाई। लोग सन्तुष्ट होकर लौट आये। उन्होंने उसी विधि से काम आरम्भ किया, जो उन्हें बताई गई थी। एक साफ-सुथरे मैदान में सारा गाठा इकट्ठा किया गया और नधाई आरम्भ की गई। बैलो को भूख लग आई थी, अत उन्होंने गाठा खाना आरम्भ कर दिया। थोड़ी देर कड़ी निगरानी रखी गई, तो बैलो ने खाना बन्द कर दिया, पर, सम्मुख रखे गये अनाज से मुंह नहीं मोडा गया। वे फिर खाने लगे। लोग घबराये हुए ऋषभदेव के पास आये और कहने लगे—इस तरह तो बैल सारा ही अनाज खा जायेंगे और हमारे हाथ कुछ भी नही आयेगा। आप कोई दूसरी विधि बताइये। ऋषभदेव ने उन्हें बैलो का मुंह बांधने का परामर्श दिया। उन्होंने वैसा ही किया। बैलो ने खाना बन्द कर दिया। वे फूले न समाये। कुछ समय बाद अनाज अलग हो गया और भूसी अलग। लोगो ने अनाज अपने कोठो मे भर लिया और भूसी बैलो के आगे रख

दी। वैलो ने उसे नही खाया। लोगो ने समझा, वैल नाराज हो गए हैं। हमने इन्हें खाने मे रोका था, अत अब ये नही खाते हैं। पानी रखा गया, तो वैलो ने पानी भी नही पिया। दो, चार, दस, वारह घण्टे वीत गये। फिर घवराये हुए लोग ऋषभदेव के पास पहुचे और कहा—स्वामिन्! वैल तो नाराज हो गये हैं। वे कुछ खाते-पीते नहीं हैं। अव क्या करें? यदि उन्होने कुछ भी खाया-पीया नही, तो वे शीघ्र ही मर जायेंगे। ऋषभदेव ने ध्यानपूर्वक सोचकर पूछा—तुमने उनका मुह खोला या नही? लोगो ने कहा—आपने हमे यह कव वताया था? ऋषभदेव वोले – जव मुह वधा है, वे खायेंगे भी कैसे? जल्दो जाओ और मुह खोलो। सव ठीक हो जायेगा। लोगो ने वैसा ही किया और वैलो ने खाना-पीना आरम्भ कर दिया।

ऋषभदेव के आदेश से वारह घण्टे वैलो का मुह वधा रहा, खान-पान का विच्छेद हुआ, अत. उससे उनके कर्म-वन्ध हुआ और उसके परिणामस्वरूप साधु वनने के वाद वारह महीने तक उन्हें आहार-पानी उपलब्ध न हो सका।

अध्ययन व कला-विकास

जीवन की आवश्यकताओ को भरने के निमित्त विविधि शिल्प व अग्नि का आविष्कार हुआ। अपराध न बढें और जीवन सुखमय हो, इसके लिए राज्य-व्यवस्था का प्रचलन हुआ। जीवन और अधिक सरस व शिष्ट हो और व्यवहार अधिक सुगमता से चल सके, इसके लिए ऋषभदेव ने कला, लिपि व गणित के विविध अगो का प्रशिक्षण भी दिया। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र भरत को वहत्तर कलाओ[1] का व परम तत्त्व का ज्ञान दिया। वाहुवली को प्राणि-लक्षण का ज्ञान, ब्राह्मी को अठारह लिपियो[2] का ज्ञान व सुन्दरी को गणित का ज्ञान प्रदान किया। व्यवहार-साधन

१. देखें परिशिष्ट संख्या—१

२. देखें, परिशिष्ट संख्या—१

के लिए मान (माप) उन्मान (तोला, मासा आदि वजन), अवमान (गज, फुट, इञ्च, आदि) व प्रतिमान (छटाक, सेर, मन आदि) बताये। मणि आदि पिरोने की कला सिखाई।

व्यष्टि से समष्टि की ओर

विसंवाद—कलह उत्पन्न होने पर न्याय-प्राप्ति के लिए राज्याध्यक्ष के समक्ष जाने का विचार दिया। वस्तुओ के क्रय-विक्रय के लिए एक प्रकार के व्यवहार की स्थापना की। साम आदि नीति, बाहु आदि अनेक प्रकार की युद्ध-प्रक्रिया, धनुर्वेद, राजा की सेवा करने के प्रकार, चिकित्सा शास्त्र, अर्थ-शास्त्र, गोष्ठादिक का मिलना, ग्राम-नगर आदि का अभिग्रहण, किसी प्रयोजन विशेष से ग्रामवासियो का एकत्रित होना, आदि बातें भी ऋषभदेव ने ही सिखाई। यहां आकर व्यष्टि एकदम टूट गई और समष्टि काफी मात्रा मे विकसित हो गई। कुलकर-व्यवस्था में व्यष्टि अधिक थी और समष्टि का आरम्भ था। इस समय कुल, जातिया व समाज भी पृथक्-पृथक् बन गए। इस प्रणाली से जहां मनुष्य का जीवन कुछ सुखमय बना, बढते हुए विकार रुके; वहा ममत्व, स्वार्थ व उनसे प्रति-स्पर्धा आदि विकार बढने लगे। पहले मनुष्य के समक्ष सारा प्राणि-जगत् ही अपना बन्धु था, सबके प्रति मैत्री भाव था, वहा ममत्व की यह कल्पना बल पकड़ने लगी—यह मेरा पिता है, भाई है, पुत्र है, माता है, पत्नी है। इस प्रकार के कौटुम्बिक ममत्व के अनन्तर लोकैषणा व वित्तैषणा भी वृद्धिगत हुई।

दण्ड-व्यवस्थाओं का विकास

समाज की धुरी सुस्थिर रखने के लिए साम, दान, दण्ड व भेद का खुल कर प्रयोग होने लगा। सुख व समृद्धि के स्थायित्व के लिए दण्ड-व्यवस्था का नाना रूपो में विकास होने लगा। औषधि और दण्ड, रोग और अपराध के निरोधक होते हैं, यह उस समय की मान्यता बन गई थी। कड़ी-से-कड़ी दण्ड-नीति के आविर्भाव की अनुभूति होने लगी;

क्योंकि हाकार, माकार और धिक्कार नीतिया असफल व शिथिल हो चुकी थी। क्रमशः १. परिभाष, २ मण्डल वन्ध, ३. चारक और ४. छविच्छेद आदि दण्ड भी चले।[१]

१. परिभाष—सीमित समय के लिए नजरवन्द करना। क्रोधपूर्ण शब्दो मे अपराधी को 'यहां मे मत जाओ' ऐसा आदेश देना।
२. मण्डल वन्ध—नजरवन्द करना। संकेतित क्षेत्र से वाहर न जाने का आदेश देना।
३. चारक—जेल मे डालना।
४ छविच्छेद—हाथ, पैर आदि काटना।

ये चार दण्ड-नीतियाँ कव चली, इसमे थोडा-सा मतभेद है। कुछ विचारको की मान्यता है कि प्रथम दो नीतियाँ ऋषभदेव के समय मे चली और दो भरत के समय मे। कुछ विद्वानो की मान्यता है, ये चारो नीतियाँ भरत के समय चली। अभयदेवसूरि ने स्थानांग[२] वृत्ति मे यह उल्लेख किया है कि चार प्रकारो मे मे प्रथम दो प्रकार ऋषभदेव के समय मे चले और शेष दो भरत के समय मे, ऐसा भी माना जाता है। आवश्यक-निर्युक्तिकार[3] आचार्य भद्रवाहु के अभिमतानुसार वन्ध (वेडी का प्रयोग) और घात (डण्डे आदि का प्रयोग) ऋषभदेव के समय प्रारम्भ हो गये थे और मृत्यु-दण्ड का आरम्भ भरत के समय हुआ।

कर्नाटक विश्वविद्यालय के इतिहास विभाग के अध्यक्ष डा० बी० ए० सोलीटोर भी आचार्य भद्रवाहु के अभिमत की पुष्टि करते हुए लिखते हैं:

---

१. परिभाषणा उ पढमा, मंडलवधम्मि होइ वीया तु।
चारग छविछेदावि, भरहस्स चउव्विहा नीई॥
—स्थानागवृत्ति, ७।३।५५७

२. आद्य द्वयमृषभकाले अन्ये तु भरतकाले इत्यन्ये।
—स्थानागवृत्ति, ७।३।५५७

३. गाथा २१७, २१८

"ऋषभदेव ने न्याय-विभाग की सुव्यवस्थित स्थापना की और कैद का प्रचलन भी किया।...जब भरत ने यह अनुभव किया कि जनता अपराध से बाज नही आ रही है, तो उसने शारीरिक यातना, कैद और मृत्यु-दण्ड भी प्रारम्भ किया।"[१]

हेमचन्द्राचार्य[२] का अभिमत है कि धनुर्वेद और संग्राम के साथ-साथ बन्ध, घात और वध का आरम्भ भगवान् ऋषभदेव के युग मे हो गया था। किन्तु, जिनसेनाचार्य[3] का अभिमत है कि चक्रवर्ती भरत के युग मे अपराध अधिक बढ़ने लगे थे, अत. वध व बन्धन आदि के रूप मे उन्होंने शारीरिक दण्ड की भी व्यवस्था की।

आचार्य मलयगिरि का अभिमत है कि भरत के साम्राज्य-काल में चारो ही दण्ड-नीतियाँ शासन-सचालन का अग बन गई थी, किन्तु, परिभाष और मण्डलबन्ध का आरम्भ भगवान् ऋषभदेव के समय मे हो गया था तथा शेष दो दण्ड-नीतियो का आरम्भ उस समय हुआ, जब कि भरत को दिग्विजय से अयोध्या की ओर लौटते हुए माणवक[४] निधि की उपलब्धि हुई थी।

---

१. ऋषभदेव founded the other institution of punishment and inprisaonment . ...while it was only भरत, who, on realizing that men could not be weaned from criunes, instituted Corporal punishment, imprisionment, and even death.

—आचार्य भिक्षु स्मृति ग्रन्थ, अ० ३, पृ० ३५

२ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १ सर्ग २, श्लो० ९६६

३. शरीर दण्डनञ्चैव वधबन्धादिलक्षणम्।
नृणा प्रबलदोषाणां भरतेन नियोजितम्॥

—आदिपुराण, पर्व ३, श्लो० २१६

४. सेसो उ दण्डनीति, माणवगनिहीउ होइ भरहस्स।

—आवश्यक, मलयगिरि, प्रथम खण्ड

—अभिधान राजेन्द्र, भा० ३, पृ० ५९५-५९६

विभिन्न मतवादो के होते हुए भी यह तो स्वीकार करना ही पडेगा कि वह समय काफी नाजुक हो गया था। उस समय तक प्रचलित धिक्कार नीति अन्य दो नीतियो की तरह प्राचीन और सहज हो गई थी और सन्तुलन विगड रहा था। अपराध वढने लगे थे, अतएव राजतन्त्र का उदय हुआ था। उस स्थिति मे किसी भी तरह की दण्ड-नीति का आरम्भ न हुआ हो, यह सहज ही बुद्धिगम्य नही होता।

दण्ड-व्यवस्थाओ की कठोरताओ से स्थितियाँ सुलझी और अन्य पद्धतियों से जीवन सुचारु रूप से चलने लगा।

विवाह-सम्वन्ध में नई परम्परा

यौगलिक परम्परा मे भाई-वहिन ही पति-पत्नी के रूप मे परिवर्तित हो जाया करते थे। ऋषभदेव का सुनन्दा के साथ पाणिग्रहण होने से यह परम्परा टूटी। इस नई परम्परा को सुदृढ रूप देने के लिए उन्होंने भरत का विवाह वाहुवली की वहिन सुन्दरी के साथ और भरत की वहिन ब्राह्मी का विवाह वाहुवली के साथ विधिपूर्वक किया। इन विवाहो का अनुसरण कर जनता ने भिन्न गोत्र मे उत्पन्न कन्या का उसके माता-पिता द्वारा दान होने पर ही ग्रहण करना, यह नई परम्परा चल पडी[1], ऐसा उपाध्याय विनय विजयजी का अभिमत है। आचार्य श्री भिक्षु[2] का अभिमत है कि ब्राह्मी और सुन्दरी आजीवन ब्रह्मचारिणी रही। जब तक भगवान्

---

१. युग्मिधर्मनिषेधाय भरताय ददौ प्रभु।
सोदर्यां वाहुवलिन. सुन्दरीं गुणसुन्दरीम्॥
भरतस्य च सोदर्यां ददौ ब्राह्मीं जगत्प्रभु।
भूपाय वाहुवलिने तदादिजनताप्यथ॥
भिन्नगोत्रादिकां कन्यां दत्तां पित्रादिभिर्मुदा।
विधिनोपायत प्राय: प्रावर्तत तथा तत.॥

—श्रीकाललोकप्रकाश, सर्ग ३२, श्लोक ४७-४९

२. भिक्षुग्रन्थरत्नाकर, खण्ड २, रत्न १७, भरत चरित, ढाल १६-१७

ऋषभदेव को केवल ज्ञान प्राप्त नही हुआ, वे गृहस्थावस्था मे रही और तदनन्तर साध्वी बनी।

उत्तराधिकार-विधि व सम्पत्ति-विभाजन

ऋषभदेव ने एक दिन भरत व बाहुबली आदि सभी पुत्रो को अपने समीप बुलाया। मन्त्रि-मडल के सदस्यो, प्रतिनिधि सभा के सदस्यो, सेनापति व अन्य उच्चाधिकारियो को एकत्रित किया। अपनी भावना व्यक्त करते हुए कहा—मैं अब राज-भार से उपरत होना चाहता हूँ। सभी प्रकार को व्यवस्थाओ का प्रवर्तन हो चुका है। धर्म चक्र का प्रवर्तन अवशिष्ट है। सामाजिक सन्तुलन को सुस्थिर रखने, जीवन को सुखी व समृद्धिशाली बनाने के लिए नाना नये प्रयोग, नई व्यवस्थाएँ व नये मानदण्ड स्थापित हो चुके हैं। उनमे मेरी एकमात्र सामाजिक बुद्धि थी। अब मैं चाहता हूँ, जीवन का दूसरा पक्ष जो अतीन्द्रियता है, उसका भी प्रवर्त्तन किया जाये। उससे मेरा और संसार का, दोनो का भला होगा। यदि ऐसा न हुआ, तो जीवन एकागी रह जायेगा और उससे मनुष्य बाह्य ससार में भटक जायेगा। मैंने आज से यह निर्णय किया है कि मैं अब निर्ग्रन्थ बनूँ और राज्यतन्त्र के सारे भार को ज्येष्ठ पुत्र भरत वहन करे। इसका अनुशासन सारी जनता शिरोधार्य करे और यह जनता को अपने पुत्र व पुत्री की तरह समझे।

भरत के ऐसा न चाहते हुए भी, उसे पिता के इस आदेश को शिरोधार्य करना पडा। अयोध्या का राज्य भरत को सौंपा गया और बहली प्रदेश का बाहुबली को। इसी तरह अन्य अठानवे पुत्रो को भी यथायोग्य राज्य सौंपे गये व अन्य सम्पत्ति का बटवारा भी किया गया। इसी पद्धति का अवलम्बन प्रत्येक कुल मे होने लगा और आगे चलकर भाई-भाई माता-पिता के रहते हुए भी एक दूसरे से अलग होने लगे।

प्रव्रज्या-ग्रहण

राज्य व सम्पत्ति के बटवारे के पश्चात् भरत का राज्याभिषेक हुआ। ऋषभदेव पूर्णत अलग हो गये और निर्ग्रन्थ बनने के लिए तैयारियाँ होने

लगी। उन्होने एक वर्ष तक दान दिया। चैत्र कृष्णा अष्टमी के चतुर्थ प्रहर व उत्तराषाढ़ा नक्षत्र मे दो दिन के उपवास मे प्रव्रजित हुए। उन्होने चार-मुष्टि[1] लुचन किया। कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार राजा व राज-कुमारो ने भी अनुगमन करते हुए प्रव्रज्या ग्रहण की।

दीक्षित होते ही उन्होंने अत्यधिक कठिन आचार का अनुष्ठान आरम्भ किया। उसके अनुसार वे प्रतिज्ञाबद्ध हुए कि जब तक चार घनघाती कर्मों का विच्छेद कर केवल ज्ञान प्राप्त न कर लूँगा, तब तक किसी को उपदेश नही दूँगा। मौन रहूँगा। केवल स्थान की अनुमति ग्रहण करने के निमित्त, आहार-पानी की गवेषणा के निमित्त या मार्ग-पृच्छा के निमित्त वचन-प्रयोग करूँगा। अपने बारे मे पूछे जाने पर केवल इतना ही कहूँगा कि मैं श्रमण हूँ। रोग उत्पन्न होने पर किसी प्रकार का उपचार नही करूँगा। मनुष्य, तिर्यंच या देव-सम्बन्धी अनुकूल व प्रतिकूल उपसर्गों मे पूर्णतः सहिष्णुता रखूँगा। भूख, प्यास, शीत, ताप, दंश-मश, रति-अरति आदि परीषहो से भीत होकर देह-रक्षा के निमित्त किसी प्रकार का प्रयत्न नही करूँगा। देहधारी होते हुए भी सदा त्यक्त देह होकर विहरण करूँगा।

दान की अनभिज्ञता

ऋषभदेव परिवार, समाज व देश की भूमिका से सर्वथा ऊपर उठ गये। उन्होंने ही व्यष्टि से समष्टि का आरम्भ किया था और वे ही उससे पृथक् होकर 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के मार्ग पर अग्रसर हो गये। उनका कोई परिवार नही रहा, किसी के प्रति ममत्व नही रहा। वे अपने अहं का भी विसर्जन कर श्रेय के विस्तीर्ण पथ के पथिक बन गये। उन्होंने अयोध्या से प्रस्थान कर दिया। माता का उनके प्रति प्रगाढ़ स्नेह था। भरत व बाहुबली आदि की असीम पितृ-भक्ति थी। सभी के नेत्र भक्ति-

---

१. चउ मुट्ठीहिं लोअं करेइ।

—जम्बूदीपपण्णत्ति, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालाधिकार

अश्रुओं से छलछलाये हुए थे। उन्होंने किसी एक की ओर न देखा और न कुछ सुना। वे निस्पृह व निर्मोह भाव से ग्रामानुग्राम विहरण करने लगे। कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार साधु शिष्य भी उनका अनुगमन करने लगे। जहाँ वे जाते, वे भी जाते, जो वे करते, वे भी करते। ऋषभदेव उन्हें किसी भी प्रकार का निर्देश, संकेत व प्रेरणा नहीं करते।

दिन व महीने बीतने लगे। ऋषभदेव अपने ध्यान, स्वाध्याय व कायोत्सर्ग में लीन रहते। तपश्चरण करते। तपस्या में अत्यधिक लीनता के कारण वे बाबा के नाम से भी विश्रुत हो गये। कभी-कभी गोचरी (भिक्षा) के लिए भी जाते। किन्तु, दान देना कोई नहीं जानते थे। अपने घर ऋषभदेव को पधारे देखकर लोग फूले नहीं समाते थे। उन्हें वे अपने भाग्य-विधाता राजा के रूप में ही देखते थे। उनका शब्दों से स्वागत करते व नाना प्रकार की वस्तुएं भेंट करना चाहते। कोई पवन गति अश्व भेंट करता, कोई सुरूपा कन्या भेंट करता, कोई आभूषण, विभिन्न रंगों के वस्त्र, फूलमालाएं, स्वर्ण, बहुमूल्य रत्न अर्पित करता, पर, भोजन व पानी नगण्य वस्तु होने से उसके दान की स्मृति किसी को भी नहीं होती। सारे ही अपने घर में रही हुई बहुमूल्य व सुन्दर वस्तु उपहृत करना चाहते। भोजन व पानी तो उनके सामने कुछ भी महत्व नहीं रखता था। किन्तु, बाबा उनमें से कुछ भी स्वीकार नहीं करते। वे एक घर से दूसरे घर व इसी क्रम से सर्वत्र घूमते। घर पर आकर जब वे खाली हाथों ही लौट जाते; घर वालों को बहुत खटकता, किन्तु, अनुनय के अतिरिक्त वे क्या कर सकते थे। बाबा अदीनमना रहते। वे किसी से कुछ भी न बोलते। बहुत बार लोग उन्हें अपनी इच्छा के बारे में पूछते, पर, दृढ़प्रतिज्ञ बाबा अपनी मर्यादा से लेशमात्र भी विचलित नहीं होते।

नाना तापसों व मतवादों की उत्पत्ति

जन-समुदाय आहार-दान-विधि से अनभिज्ञ था और बाबा याचना-पूर्वक कुछ भी न लेने के लिए दृढ़प्रतिज्ञ थे। अनशन में ही समय बीतने

लगा। चार हजार साथी शिष्य भूख-प्यास से घबरा गये। यद्यपि वे भी बावा के पीछे-पीछे ही घूमते। जैसे बावा करते, उसी तरह करने का प्रयत्न करते, किन्तु, उनकी तरह वे बुभुक्षा-विजेता नहीं बने। संयम का विवेक उनमे था नही। वे तो उन्हें अपना स्वामी समझकर 'गतानुगतिको लोकः' के अनुसार प्रवृत्त हुए थे। परस्पर सोचने लगे--बावा तो कडवे फलो की तरह मधुर फलो को भी नही खाते। खारे पानो की तरह मीठा पानी भी नही पीते। शरीर के लिए बिलकुल लापरवाह हैं। न स्नान करते हैं, न विलेपन करते हैं और न वस्त्र, अलकार या फूल ही धारण करते हैं। रात को न नीद लेते हैं और न बैठते ही हैं। हम उनके अनुचर बने हैं, फिर भी न हमे कुछ आदेश करते हैं, न इगित करते हैं और न कभी कुछ पूछते हैं। ऐसा लगता है, जैसे कि हम इनके अपराधी हो।

एक दिन कुछ मुनि एकत्रित होकर कच्छ, महाकच्छ जो बडे मुनि थे, उनके पास आये। सवेदना-भरी वाणी मे कहने लगे—ये बावा तो भूख-प्यास के विजेता हैं, पर, हम तो अन्नकीट व मेढक हैं। बावा शीत-ताप से नही घबराते। ऐसा लगता है, जैसे कि इन्होने तो शरीर को ही पूर्णत. वातानुकूलित बना लिया हो। किन्तु, हम तो बन्दर की तरह शीत मे कापने वाले हैं। बावा रात मे एक क्षण भी नींद नही लेते, पर, हम तो निद्रालु अजगर हैं। समुद्र को अपने सामर्थ्य से उडकर पार करने वाले गरुड पक्षी का जैसे कोई कौआ अनुगमन कर लेता है, हमने तो वैसे ही बावा के घोर व्रतो का अनुसरण कर लिया है। सामर्थ्य की अवहेलना कर जो हमने घोर अनुष्ठान आरम्भ किया था, वह हमारे लिए अब जीवन-मरण का प्रश्न बन गया है। हम तो इस दुर्धर्ष पथ का अवलम्बन नही कर सकते। हम आपसे यह परामर्श पाने आये हैं कि क्या अब हमे अपने राज्य मे पुन. चले जाना चाहिये ? हमारे राज्य तो आज कल भरत के अधीन हैं। क्या हमे भरत का आश्रय ले लेना चाहिए ? बावा को अकेले ही छोड कर चले जाने मे उसका भी भय सामने है। आप बावा के अति

निकट रहने वाले हैं; अतः उनका इंगित और अभिप्राय अच्छी तरह समझते हैं।

कच्छ, महाकच्छ ने उत्तर दिया—बाबा की गहराई तो समुद्र के समान अगम्य है। पहले तो वे बोलते थे, बातचीत करते थे, आदेश-उपदेश भी देते थे; अतः उन्हें समझा जा सकता था, किन्तु, आजकल तो वे पूर्णत मौन हैं। उन्हें समझ पाना हमारे लिए भी उतना ही दु साध्य है, जितना कि आप सब के लिए। आप लोगो के समान ही हम भी कठिनाई अनुभव कर रहे हैं। सब की समान ही दशा है; अतः जैसा सभी चाहें, हम भी वैसा ही करने को समुद्यत हैं।

सब की ही सम्मिलित एक सभा हुई और उसमे यह निर्णय लिया गया कि अब पुन. राज्य मे नही जाना चाहिए। गगा नदी के समीपवर्ती जगलो मे ही हम सबको रहना चाहिए। वहाँ किसी के लिए भी कोई दुविधा नही होगी। इस सर्वसम्मत निर्णय के आधार पर सभी एक ही दिशा में चले। न कोई किसी के अधीन और न कोई किसी का अधिनेता। स्वेच्छया जगलो मे घूमते, कन्द, मूल व फल खाते और गंगा का मीठा पानी पीते। किसी ने जटा रखनी आरम्भ कर दी, तो किसी ने रुद्रा रखना भी। कोई एकदण्डी कहलाया, तो कोई त्रिदण्डी। कोई कन्दाहारी बना, कोई मूलाहारी, तो कोई फलाहारी। इस तरह नाना तापस[1] और नाना वेष बन गये[2] और उनके आधार पर उनके पृथक्-पृथक् विचार बने, जो आगे चलकर आग्रह का रूप धारण कर लेने पर विनयवाद, अज्ञानवाद, क्रियावाद व अक्रियावाद आदि तीनसौत्रेसठ[3] दर्शनो व दर्शनाभासो के रूप मे प्रसिद्ध हुए।

---

१. देखें, परिशिष्ट सख्या—१

२. विस्तार के लिए देखें, पद्मानन्दमहाकाव्यम्, सर्ग १३, श्लोक ११ से ४१

३. देखें, परिशिष्ट संख्या—१

प्रारम्भ मे ये संन्यासी वल्कल का वस्त्र धारण करने से चलते-फिरते वृक्ष जैसे लगते थे। वे गृहस्थो के यहाँ निष्पन्न आहार को वमित आहार के समान समझते थे और उसे ग्रहण नही करते थे। तपस्या मे रत रहते थे। कभी चतुर्थ भक्त (एक दिन का उपवास) करते, तो कभी षष्ठ भक्त (दो दिन का उपवास) करते। पारण मे भी वृक्षो से स्वत गिरे हुए पत्तो या फलो का ही आहार करते तथा भगवान् ऋषभदेव का ध्यान करते थे।

त्रिदण्डी तापस

नाना मतवादो को मानने वाले तापसो की उत्पत्ति व विहरण की उपरोक्त आदि घटना बनी। एक परम्परा[1] के अनुसार जब भगवान् ऋषभदेव को केवल ज्ञान पैदा हुआ, कच्छ और महाकच्छ को छोडकर अन्य सारे शुद्ध होकर पुन प्रव्रजित हो गए। मरीचि से त्रिदण्डी तापसो का आरम्भ हुआ और वे धीरे-धीरे नाना मतवादो मे विभक्त होकर क्रमश तीनसौत्रेसठ की सख्या तक पहुँच गए।

मरीचि भरत का पुत्र था। सुर-असुरो द्वारा की गई भगवान् ऋषभदेव के केवल ज्ञान की महिमा को देखकर वह भी अपने पाचसौ भाइयो के साथ निर्ग्रन्थ बना था। वह ग्यारह ही अगो का ज्ञाता था और प्रतिदिन भगवान् ऋषभदेव के साथ उनकी छाया की तरह विहरण करता था। एक बार भयकर गर्मी से वह परिक्लान्त हो गया। सारा शरीर पसीने से तर-बतर हो गया। पसीने व मलिन वस्त्रो के कारण उसके शरीर से दुर्गन्ध उछलने लगी। प्यास के मारे प्राण निकलने लगे। गर्मी व तत्सम्बन्धी अन्य परीषहो से वह इतना पराभूत हुआ कि श्रामण्य की सामान्य पर्याय से भी नीचे खिसक गया तथा अन्य नाना सकल्प-विकल्पो का शिकार हो गया। उसके मन में यह विचार उत्पन्न हुआ : "प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव का मैं पौत्र हूँ। अखण्ड छः खण्ड के विजेता प्रथम

---

१. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ६

चक्रवर्ती का मैं पुत्र हूँ। चतुर्विध तीर्थ के समक्ष वैराग्य के साथ मैंने प्रव्रज्या ग्रहण की है। सयम को छोडकर घर चले जाना मेरे लिए लज्जास्पद है, किन्तु, चरित्र के इतने बडे भार को अपने इन दुर्बल कन्धो पर उठाये रखने मे भी मैं सक्षम नही हूँ। महाव्रतो का पालन अशक्य अनुष्ठान है और इन्हें छोडकर घर चले जाने से मेरा उत्तम कुल मलिन होगा। 'इतो व्याघ्र · इतस्तटी' एक ओर व्याघ्र है और दूसरी ओर गहरी नदी। किन्तु, जिस प्रकार पर्वत पर चढने के लिए सकरी पगडण्डी होती है, उसी प्रकार इस कठिन मार्ग के पास एक सुगम मार्ग भी है।"

अपने ही विचारो मे खोया हुआ मरीचि आगे और सोचने लगा—भगवान् ऋषभदेव के साधु मनोदण्ड, वचनदण्ड और कायदण्ड को जीतने वाले हैं और मैं इनमे जीता गया हूँ, अत त्रिदण्डी बनूँगा। इन्द्रिय-विजयी ये श्रमण केशो का लुचन कर मुण्डित होकर विचरते हैं। मैं मुण्डन कराऊँगा और शिखा रखूँगा। ये निर्ग्रन्थ सूक्ष्म व स्थूल दोनो प्रकार के प्राणियो के वध से विरत हैं और मैं केवल स्थूल प्राणियो के वध से ही उपरत रहूँगा। मैं अकिञ्चन भी नही रहूँगा और जूतो का प्रयोग भी करूँगा। चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यो का विलेपन करूँगा। मस्तक पर छत्र धारण करूँगा। कषाय-रहित होने से ये मुनि श्वेत वस्त्र पहनते हैं और मैं कषाय-कालुष्य से युक्त हूँ; अत. इसकी स्मृति मे काषायित वस्त्र पहनूँगा। ये सचित्त जल के परित्यागी हैं, पर, मैं वैसे परिमित जल से स्नान भी करूँगा तथा पीऊँगा भी।

अपनी बुद्धि से वेष की इस तरह परिकल्पना कर तथा उसे धारण कर वह भगवान् ऋषभदेव के साथ ही विहरण करने लगा। जैसे खच्चर गधा या घोडा नहीं कहलाता, किन्तु, दोनों के अंश से उत्पन्न होता है, उसी प्रकार मरीचि भी न मुनि था और न गृहस्थ। दोनो के अंश वाला वह एक नवीन वेषधारी ही बन गया। साधुओ की टोली मे उस विकृत साधु को देखकर कोतूहलवश बहुत सारे व्यक्ति उससे धर्म पूछते। उत्तर

मे वह मूल तथा उत्तर-गुण-सम्पन्न साधु-धर्म का ही उपदेश करता। जब उसे जनता यह पूछती कि तुम उसके अनुसार आचरण क्यो नहीं करते, तो वह अपनी असमर्थता स्वीकार करता। उसके उपदेश से प्रेरित होकर यदि कोई भव्य दीक्षित होना चाहता, तो वह उसे भगवान् के समवसरण मे भेज देता और भगवान् उसे दीक्षा-प्रदान कर देते।

सांख्य दर्शन का आविर्भाव

भगवान् ऋषभदेव की सेवा मे विहरण करते हुए मरीचि का काफी समय वीत चुका। एक वार वह रोगाक्रात हुआ। परिचर्या के अभाव मे वह अत्यन्त पीडित हुआ। उसकी परिचर्या करनेवाला कोई व्यक्ति नही था, अत वेदना मे पराभूत होकर उसने अपने साथियो को वढ़ाने का सोचा। सयोग की वात थी, एक वार भगवान् ऋषभदेव देशना (प्रवचन) दे रहे थे। कपिल नामक एक राजकुमार भी परिषद् मे उपस्थित था। उसे वह रुचिकर प्रतीत नही हुआ। उसने इधर-उधर अन्य साधुओ की ओर भी दृष्टि दौडाई। सभी साधुओ के वीच विचित्र वेषवाले उस त्रिदण्डी मरीचि को भी उसने देखा। वह वहाँ से उठकर उसके पास आया। धर्म का मार्ग पूछा, तो मरीचि ने स्पष्ट उत्तर दिया : "मेरे पास धर्म नही है। यदि तू धर्म चाहता है, तो प्रभु का ही शरण ग्रहण कर।" वह पुन भगवान् ऋषभदेव के पास आया और धर्म-श्रवण करने लगा। किन्तु, अपने दूषित विचारो से प्रेरित होकर वह वहाँ से पुन उठा और मरीचि के पास आकर वोला—क्या तुम्हारे पास जैसा-तैसा भी धर्म नहीं है ? यदि नही है, तो फिर यह सन्यास का चौगा कैसे ?

"दैवयोग से यह भी मेरे जैसा ही मालूम होता है। चिरकाल से सदृश विचार वाले का मेल हुआ है। मेरें असहाय का यह सहायक हो।" इन विचारो मे निमग्न मरीचि ने उत्सूत्र प्ररूपणा करते हुए कहा . "वहाँ भी धर्म है और यहाँ भी।" इस मिथ्यात्वपूर्ण सभाषण से उसने उत्कट ससार वढ़ाया। कपिल को दीक्षित कर उसने अपना सहयोगी वनाया और

उसे पच्चीस तत्त्वो का उपदेश देकर अलग मत की स्थापना की। आगे चलकर कपिल का शिष्य आसुरी व आसुरी का शिष्य साख्य बना। कपिल व साख्य ने मरीचि द्वारा बताए गए उन पच्चीस तत्त्वो की विशेष व्याख्या की, जो एक स्वतन्त्र दर्शन के रूप मे प्रसिद्ध हुआ। कपिल और साख्य उस दर्शन के विशेष व्याख्याकार हुए हैं, अत. वह दर्शन भी कापिल दर्शन या साख्य दर्शन के नाम से विश्रुत हुआ। मरीचि तो केवल सस्थापक के रूप मे ही रहा।

जिनसेनाचार्य का अभिमत है कि जब भगवान् ऋषभदेव ने दीक्षा-ग्रहण की थी, तब उनके पारिवारिक मरीचि ने कच्छ, महाकच्छ आदि चार हजार राजा व राजकुमारो के साथ ही दीक्षा ग्रहण कर ली थी और जब वे सारे साधना से भ्रष्ट हुए, वह भी भ्रष्ट हो गया और उत्सूत्र प्ररूपणा करने लगा।[1] भगवान् ऋषभदेव को जब केवल ज्ञान प्राप्त हुआ, तब मरीचि को छोडकर कच्छ, महाकच्छ आदि अन्य सभी ने पुन दीक्षा ग्रहण कर ली।[2]

नमि व विनमि द्वारा राज्य-याचना

नमि व विनमि कच्छ व महाकच्छ के पुत्र थे और ऋषभदेव को इतने प्रिय थे कि वे इन्हे दत्तक पुत्र की तरह समझते थे। जब ऋषभदेव के साथ कच्छ व महाकच्छ ने दीक्षा-ग्रहण की थी, ये कही अन्यत्र गये हुए थे। वहाँ से लौटते हुए इन दोनो ने अपने-अपने पिता को गगा नदी के समीपवर्ती वन मे सन्यासी के वेष मे घूमते हुए देखा। उन्हें उन दोनो की

---

१. मरीचिश्च गुरोर्नप्ता परिव्राड्भूयमास्थित.।
मिथ्यात्ववृद्धिमकरोद् अपसिद्धान्तभाषितै ॥
—आदिपुराण, पर्व १८, श्लोक ६१

२. मरीचिवर्ज्याः सर्वेपि तापसास्तपसि स्थिताः।
भट्टारकान्ते सम्बुद्ध्य महाप्राव्राज्यमास्थिता ॥
—आदिपुराण, पर्व २४, श्लोक १८२

वह स्थिति देखकर बहुत आश्चर्य हुआ। उन्होने सोचा, यह क्यो हुआ और कैसे हुआ ? एक दिन था, जबकि इनके शरीर पर महीन वस्त्र रहते थे और आज वल्कल के वस्त्र हैं। एक दिन था, जबकि इनके शरीर पर विभिन्न सुगन्धित तेलो का मर्दन व नाना उत्तम द्रव्यो का विलेपन होता था और आज ये धूल से सने हैं। एक दिन था, जबकि इनके केश फूलो से सज्जित रहते थे और आज वट-शाखाओ की तरह जटा रूप हैं। एक दिन ये हाथियो पर सवारी करते थे और आज स्वय पादचारी हैं। वे इस तरह विचारो मे डूबते-तैरते अपने-अपने पिता के पास गये और आश्चर्य के साथ अपनी जिज्ञासाएँ प्रस्तुत की।

कच्छ व महाकच्छ ने अपने पुत्रो को भरत के राज्य-ग्रहण व बाबा के प्रव्रजित होने और उनके साथ स्वय के प्रव्रजित होने की सारी घटना सुनाई। बाबा के अतुल धैर्य और साहस की बातें भी सुनाईं। अपने विषय मे सुनाते हुए उन्होने कहा—भूख-प्यास, शीत-ताप आदि कष्टो से हम तो घबरा गये। हमारे से वह दुष्कर साधना न हो सकी। फिर भी पुन गृहस्थ बनना हमे स्वीकार नही था, अतः हम इस तपोवन मे रहने लगे।

नमि व विनमि बोल पडे—बाबा ने जब सबको समान रूप से राज्य का वितरण कर अधिकार दे दिया, तो केवल हमे ही कोरा क्यो छोडा गया ? हम अभी जाते हैं और उनसे राज्य का प्रसाद प्राप्त करते हैं। वे दोनो, जहाँ बाबा ध्यानस्थ खडे कायोत्सर्ग कर रहे थे, आये। दोनो ने ही उनकी नि.सग व सौम्य आकृति को देखा। वे बोल पडे—"वाह ! बाबा तुमने खूब किया। हम दोनो को तो कही दूर भेज दिया और पीछे से भरत आदि को सारा राज्य बाँट दिया। हमारे लिए भी तो कुछ व्यवस्था कर आये हैं या नही ? लगता है, गौ के खुर के बराबर भी भूमि हमे नही दी गई। दी भी कैसे जाती ? हम कोई तुम्हारे जन्मजात पुत्र थोडे ही थे। दत्तक पुत्रों के साथ तो ऐसा ही व्यवहार हुआ करता है। हम तो उधर से (पिता की सम्पत्ति से) भी गये और इधर से

(आपकी सम्पत्ति से) भी गये। बताइये, अब हमारे जीवन का क्या आधार होगा ? किन्तु, चिन्ता की कोई बात नहीं, बाबा ! अब भी कृपा कर दो और बचा-खुचा जो कुछ भी हो, हमें दे दो। हम तो उसे भी आपका प्रसाद समझ कर स्वीकार कर लेंगे।"

बाबा नहीं बोले। उन्होंने अपना ध्यान नही तोड़ा। किन्तु, नमि व विनमि दोनो ही वहाँ आसन लगाकर बैठ गये। सोचने लगे, हमारी भक्ति ने बाबा अवश्य प्रसन्न होंगे। हमारा कर्त्तव्य तो इनकी सेवा बजाना है। जब समय आयेगा, परिपाक होगा और फल मिलेगा। जहा बाबा खडे ध्यान कर रहे थे, वहाँ धूलि न उडे, इसलिए वे कमल पत्तो के दोनो मे सरोवर का पानी लाते और वहाँ छिडकते। प्रात.काल सुगन्धित पुष्प लाते और बाबा के चरणो मे उपहृत करते। हाथ में तलवार लेकर बाबा के दोनो ओर दोनों खडे रहते। प्रात:, मध्याह्न, सायं व रात को प्रणाम कर अपनी याचना को उच्च स्वर मे बोलकर दुहराते।

नमाज का आरम्भ

कुछ विद्वानो का ऐसा अभिमत है कि नमाज के आरम्भ की यही आदि घटना बनी है। उनका कहना है कि इस्लाम धर्म के अनुसार सृष्टि की आदि मे एक ही मनुष्य जाति थी और उसे सन्मार्ग पर चलाने के लिए बाबा आदम ने धर्मोपदेश दिया। यह आदम नबी का बेटा रसूल ही था, जिसको खुदा ने अपना उपदेश जनता तक पहुँचाने के लिए पैदा किया था। नबी नाभि का तथा रसूल ऋषभ का अपभ्रंश है। सामाजिक, न्यायिक व धार्मिक नाना परम्पराओ के प्रवर्तक होने के कारण भगवान् ऋषभदेव को आदिनाथ या आदम बाबा भी कहा जाता है। उक्त अभिमत की पुष्टि मैराजुलनबूत नामक मुसलमानी पुस्तक से भी हो जाती है, जिसमे स्पष्ट लिखा है कि "बाबा आदम हिन्दुस्तान मे पैदा हुए थे।" भारतवर्ष मे आदम बाबा के नाम से भगवान् ऋषभदेव विशेषत. विश्रुत हैं; अतः विद्वानो की कल्पना भी सहज ही इस निश्चय

तक पहुँच जाती है। नमि व विनमि द्वारा प्रणाम करने का समय तथा याचना दुहराने का साष्टाग प्रकार भी लगभग वही था, जो आजकल नमाज पढने वालो का है। नाम-साम्य तथा प्रकार-साम्य कल्पना को निश्चय के कगार तक पहुँचने के लिए विवश कर देते हैं।

एक दिन नागकुमारो का अधिपति धरणेन्द्र भी वावा को नमस्कार करने आया। उसने सरलाशय दोनो ही कुमारो को वहा याचना करते हुए देखा। धरणेन्द्र द्वारा अपना परिचय व उद्देश्य पूछे जाने पर उन्होंने अपनी सारी घटना वताई। धरणेन्द्र ने कहा—जव वावा ने वारह महीने तक यथेच्छित दान दिया था, तव तुम कहाँ चले गये थे ? अव तो वावा नि.सग, निष्परिग्रही व हर्ष-शोक विप्रमुक्त हो गये हैं। न तो इनका कोई परिवार रहा है और न इनके पास भौतिक परिग्रह भी। ये आत्मस्थ हो गये हैं ; अतः अध्यात्म-चिन्तन ही इनका मुख्य विषय वन गया है।

नमि व विनमि ने कहा—ये हमारे स्वामी हैं और हम इनके सेवक हैं। हम तो इनकी सेवा करते रहेगे व अपनी माग दुहराते रहेगे। सेवक को कभी यह चिन्ता नहीं होनी चाहिए कि स्वामी के पास कुछ है या नही ?

धरणेन्द्र ने कहा—अव तो भरत के पास जाओ। वह अवश्य तुम्हें राज्य देगा, सत्कृत करेगा और भावी जीवन का कुछ प्रवन्ध करेगा। वह भी वावा का पुत्र होने से वावा के समान ही पूज्य हो जाता है।

नमि व विनमि ने इस चर्चा को समाप्त करने के अभिप्राय से कहा—वावा का शरण छोडकर भरत के समक्ष जाना वैसा ही है, जैसे कि कल्प वृक्ष को छोडकर करील की छाया मे जाना। वावा हमे कुछ देंगे या नही, इसकी चिन्ता आप छोड दीजिए। हमारी भक्ति मे यदि आकर्षण होगा, तो वावा भी पसीजेंगे और हमे वरदान देंगे।

धरणेन्द्र दोनो की सेवा-भावना से वहुत प्रभावित हुआ। वोला—वावा का आशीर्वाद तो कोई विरल भाग्यवान् ही प्राप्त कर सकता है।

इसमे भी कोई सन्देह नहीं कि तुम्हारी भक्ति सच्ची है। मैं भी बाबा का सेवक हूँ, अतः हम दोनों का निकट सम्बन्ध हो जाता है। मैं तुम्हें विद्याधरों का ऐश्वर्य देना चाहता हूँ। इसे बाबा ने ही दिया है, यही समझकर तुम स्वीकार करो। वैताढ्य पर्वत पर जाओ, वहाँ दोनों ओर नगर बसाओ और सुखपूर्वक राज्य करो। धरणेन्द्र ने उन दोनों को गोरी, प्रज्ञप्ति आदि अड़तालीस हजार[1] विद्याएँ भी सिखाई, जो स्मरण मात्र से ही अभिसिद्धिया प्रदान करती थी। नमि और विनमि ने बाबा को नमस्कार किया और पन्नगपति के साथ ही पुष्पक विमान पर सवार होकर अपने पिता कच्छ व महाकच्छ से मिलकर अयोध्या आये। भरत से मिले। पारिवारिको को साथ लेकर वैताढ्य पर्वत की ओर चल दिये।

नमि ने धरणेन्द्र के सहयोग से बाहुकेतु, पुण्डरीक, हरिकेतु, चित्रकूट, त्रिकूट आदि पच्चास[2] नगर बसाये व श्रीरथनुपुर चक्रवाल को राजधानी बनाया। विनमि ने वैताढ्य के उत्तर विभाग मे अर्जुनी, वारुणी रत्नपुर आदि साठ[3] नगर बसाये और गगनवल्लभ नामक राजधानी भी। इनके अतिरिक्त दोनो ही कुमारो ने अनेक ग्राम, कस्बे व उपनगर भी बसाये। विद्याधरो के लिए नाना सामाजिक नियम भी बनाये गये। जिनमे कुछ नियम इस प्रकार हैं. १ कोई भी विद्याधर अपनी विद्या का मद कर तीर्थंकर, चरम शरीरी, प्रतिमाधर, कायोत्सर्ग मे लीन मुनि का अपमान न करे तथा अपना विमान उनके ऊपर से न ले जाये। २. किसी पति पत्नी को न मारे। ३. किसी स्त्री के साथ बलात्कार न करे। जो इन नियमो का उल्लंघन करेगा, उसके पास विद्या नही रहेगी।[4] विद्याओ के नाम मे

---

१ इत्युक्त्वा गौरी-प्रज्ञप्ति-प्रमुखाः पाठसिद्धिदाः।
सोऽष्टचत्वारिंशत् सहस्राणि विद्यास्तयोर्ददौ ॥
— पद्मानन्दमहाकाव्यम्, सर्ग १३, श्लो० १३२

२. देखें, परिशिष्ट संख्या—?

३. देखें, परिशिष्ट संख्या—१

४. पद्मानन्दमहाकाव्यम्, सर्ग १३ श्लो० १६० से १६३

विद्याघरो की गौरेय, गाधार, मानव, भूमितुण्डक, मूलवीर्यक, श्वपाकक, मातग आदि सोलह[1] जातियाँ भी हुई। आठ जातियो के विद्याधर नमि के राज्य मे रहे और आठ जातियो के विद्याधर विनमि के राज्य मे। दोनो ही कुमार चतुर्विध पुरुषार्थ के द्वारा वहाँ सुखपूर्वक राज्य करने लगे।

प्रथम दानी

भगवान् ऋषभदेव को प्रव्रजित हुए एक वर्ष पूरा होने लगा। ध्यान, स्वाध्याय व तपश्चरण से उनका शरीर कृश हो गया। अनवरत वर्षी तप से उनके शरीर का रक्त सूखने लगा, मास-पेशियाँ नही के बराबर हो गई व चमडी काली पडने लगी, फिर भी शरीर-बल के समक्ष आत्म-बल ने हार नही मानी। उनकी साधना का वेग प्रतिदिन बढता ही गया। ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए वे हस्तिनापुर पधारे। बाहुबली के पौत्र व सोमप्रभ के पुत्र श्रेयान्सकुमार ने उसी पश्चिम रात मे अर्ध निद्रित अवस्था मे एक स्वप्न मे देखा कि श्यामल बने हुए स्वर्ण गिरि को मैं दूध से भरे हुए घट से अभिषिक्त कर उज्ज्वल बना रहा हूँ। इसी रात मे सुबुद्धि नामक सेठ ने भी स्वप्न मे देखा कि श्रेयान्सकुमार ने सूर्य मे निकली हुई सहस्र किरणों को पुन सूर्य मे प्रतिष्ठित किया, जिससे वह अत्यधिक प्रकाशित होने लगा। सोमप्रभ राजा ने भी अपने स्वप्न मे देखा कि श्रेयान्सकुमार के सहयोग से अनेक शत्रुओं द्वारा सर्वत. घिरे हुए राजा ने विजय प्राप्त की। तीनो ने ही स्वप्न-फल के सम्बन्ध से परस्पर विमर्षण किया, किन्तु, किसी निर्णय पर नही पहुँच सके।

श्रेयान्सकुमार अपने आवास के ऊपरी गवाक्ष मे बैठा स्वप्न का चिन्तन कर रहा था। उसे इस बात की प्रसन्नता थी कि तीनो ही स्वप्नो का मुख्य आधार वह था। उसके द्वारा कोई महान् कार्य होगा, रह-रह कर ये विचार उसके मस्तिष्क मे उभर रहे थे। राज-पथ की ओर अनायास ही उसकी नजर पडी। भगवान् ऋषभदेव का भी उसी समय उस मार्ग

१. देखें, परिशिष्ट सख्या—१

से शुभागमन हुआ। श्रेयान्सकुमार ने उन्हें देखा। वह भक्ति-विभोर हो गया। उसके सुषुप्त प्राचीन संस्कार जाग उठे। नाना विकल्प उठे, ऊहा-पोह हुआ और उसके परिणाम स्वरूप उसे जाति-स्मरण ज्ञान प्राप्त हुआ। गत जीवन की स्मृति हुई और उसने भगवान् ऋषभदेव के साथ कई गत भावो मे रहे अपने सम्बन्धो के बारे मे विशेष रूप से जाना। धार्मिक संस्कार, उपासना के प्रकार और उनके साथ-साथ साधुओ की आचार-विधि भी जानी। श्रेयान्सकुमार ने यह भी जाना, बाबा के तो वर्षी तप है। किसी प्रकार के आहार का दाता इन्हें नही मिला। जहाँ बाबा जाते है, जनता अन्य वस्तुएँ ही उपहृत करती हैं, जो कि इनके लिए उपयोगी नही हैं। आहार जैसी वस्तु को सामान्य समझकर निवेदन ही नही करते है और बाबा मांग कर लेते नही। वह अपने गवाक्ष से नीचे उतरा, बाबा के समीप आया और उसने प्रणाम कर भिक्षा-ग्रहण करने के लिए निवेदन किया।

बाबा ने अदीनमना श्रेयान्स की प्रार्थना को स्वीकार किया और उसके राजप्रासाद मे पधारे। श्रेयान्स के यहाँ उस दिन उपहार मे ईक्षु रस आया हुआ था। वह पूर्णत कल्पनीय स्थिति मे था, अत श्रेयान्स ने अपने हाथो मे रस भृत घट लिया और बाबा ने अपनी अजली ओष्ठ युग्म पर रखी। श्रेयान्स ने रस उँडेला। बाबा ने वर्षी तप का पारण किया। श्रेयान्सकुमार पहला दानी बना। वातावरण बहुत ही सुखद हो गया। आकाश अहोदानं, अहोदान की ध्वनि से अभिगुजित होने लगा। रत्नो, पचरगे पुष्पो, गन्धोदक व उज्ज्वल वस्त्रो की वर्षा के रूप मे पाँच दिव्य प्रकट हुए।

वह दिन वैशाख शुक्ला तृतीया का था। वह दान अक्षय दान बना; अत उस दिन से वैशाख शुक्ला तृतीया अक्षय तृतीया की सज्ञा से विश्रुत हुई।

अडोस-पड़ोस की जनता, राजा व अन्य सामन्तो ने श्रेयान्सकुमार के दान की महिमा सुनी, तो बडे आश्चर्यान्वित हुए। सभी दौडे-दौडे

वहाँ आये। अपने अज्ञान के प्रति उनके मन मे ग्लानि हुई। सब के मुँह से एक ही ध्वनि निकल रही थी—हमे क्या पता था कि वावा भोजन के लिए ही घर-घर घूम रहे हैं।

पुत्र-विरह की व्याकुलता

भगवान् ऋषभदेव को उग्रतम तप तपते हुए व घोर साधना करते हुए वर्षों ही वीत गये। अरण्य या सुनसान स्थान ही उनकी तपोभूमि थे। गिरि-गुफाओ व शून्यागारो के एकान्त निर्जन वातावरण मे वे ध्यान लगाते। समाधि मे अपनी आत्मा को भावित रखते। एक स्थान पर अधिक दिन नही ठहरते। शहरो मे या वस्ती मे जव कभी महीनो वाद भिक्षा ग्रहण करनी होती, वे आते। वे माता के मोह से उपरत थे। पुत्रो के प्रति उनका प्यार अपनी भूमिका से वहुत ऊपर उठ चुका था। राज्य-चिन्ता उन्हें अभिभूत नही करती थी। वे एक निर्मोह, निस्पृह व नि.संग का जीवन जी रहे थे। उनके प्राण शरीर मे टिके हुए थे, पर, उनकी आत्मा उस वन्धन को पार कर चुकी थी। अनुराग विराग मे परिणत हो चुका था और विराग उनका सहज धर्म वन चुका था। वे सतत विहरणशील थे। कभी वे अयोध्या के समीपवर्ती सरयू को अपना समाधि-स्थल वनाते, तो कभी भारत की उत्तरी सीमा के प्रहरी हिमालय (कैलाश) की तराई मे रही तक्षशिला के वन-खण्डो को। आदिवासी वस्तियाँ, देहात, द्रोण, पत्तन आदि सभी उनको पावन साधना के स्थल वन चुके थे। सव की ही उनके प्रति अगाध श्रद्धा थी।

गगनचुम्वी राजप्रासाद मे एक दिन महामाता मरुदेवा आनन्द-मग्न वैठी थी। आस-पास की कुछ सवयस्क वृद्धाओ के साथ वातें कर रही थी। छोटी गोष्ठी-सी हो गई। सभी एक दूसरी को अपने सुख-दु ख की वातें कह रही थीं और आत्मीयता के साथ सुन भी रही थी। उनका पारस्परिक सहज स्नेह वार्तालाप मे रस उण्डेल रहा था। वच्चो के भरण-पोषण, उनके स्वभाव व सहज चापल्य का प्रकरण चल पडा।

सभी वृद्धायें हर्षातिरेक मे अपने-अपने लाडलो के गुन बखानने लगीं। इस श्रुति ने महामाता के मन में आकस्मिक विषाद उत्पन्न कर दिया। उनकी आंखें डबडबा आई और बोलते-बोलते गला रुध गया। उन्हें अपने प्रिय पुत्र ऋषभदेव का स्मरण हो आया। वे अपनी सहेलियो को सम्बोधित करती हुई बोल पड़ीं—तुम तो अपने पुत्रो व पौत्रो को अपने-अपने आगन मे देखकर खिल रही हो व उनकी तुतली वाणी को सुनकर आह्लादित हो रही हो, पर, मेरा पुत्र जो कि सबका भाग्य-विधाता था, आज कहा है, क्या कर रहा है, किस स्थिति मे है, कोई नही जानता। वे माताएं धन्य हैं, जो अपने पुत्रो को, लता जैसे किसलय-कोमल पुष्पो से अपने को पल्लवित करती है, अपने नयनो से निहारती हैं और उनके क्रिया-कलाप का प्रत्यक्ष अनुभव कर पाती हैं। मैं तो इस सुख से वंचित हो गई हूं। प्रतिक्षण ऋषभ के कार्य-कलाप याद आते हैं, जो मेरे सम्मुख हुआ करते थे। उसके वर्तमान जीवन के रेखाचित्र भी सामने आते हैं, तो छाती भर जाती है और दिल अकुलाने लगता है। एक दिन था, जब कि मैं प्रतिदिन मनुहारें कर-कर उसे भव्य भोजन खिलाती थी। आज वह अभोजन के समान भिक्षा भोजन करता होगा। मैं हमेशा यह ध्यान रखती थी, उसने क्या खाया है, क्या खाना है, कौन-सा भोजन उसके अनुकूल है व कौन-सा प्रतिकूल, पर, अब तो उसके खाने-पीने का कोई ठिकाना ही नही। मैं उसे सर्दी-गर्मी से सदा सावधान करती थी, पर, अब उसकी सार-संभाल करने वाला कौन है? उसके मस्तक पर चाद की चादनी जैसा उज्ज्वल व मनोहारी छत्र रहता था, वारागनाएँ चंवर डुलाती रहती थी, पर, अब तो सूर्य का आतप उसका छत्र व डस-मस आदि ही उसके चंवर हैं। वह मस्त हाथियो पर सवारी करता था, नगर-रक्षक व अग-रक्षको से आवेष्टित शहर मे रहता था और अब वह बटोही की तरह सिंह, श्वापदो से भरे सघन जगलो मे अकेला घूमता है। मैंने तो उसकी प्रतीक्षा मे पलकें बिछा रखी हैं, पर, उसे मेरी सुध ही नही है। इतने वर्षों मे कभी आया भी नही और मैं, सुख मे

हूँ या दु ख मे इसकी जानकारी तक भी उसने नही ली। उसके विरह मे अकुलाती हुई मैं तो अतिशय वृद्धा हो गई हूँ और यह शरीर ककाल हो गया है। मेरी वह जानकारी न ले, इस दु:ख को मैं भूल भी सकती हूँ, किन्तु, उसके कुशल-संवाद मुझे न मिलें, मेरे लिए यह अत्यन्त असह्य है।

महामाता की टीस भरी वातो ने सभी वृद्धाओ को रुला दिया। ऋषभ जैसा पुत्र और वह अपनी माता से इतना दूर हो, किसको नही १ टकता। वातावरण मे स्तब्धता छा गई। कौन किसकी ओर निहारे व कौन किसको सान्त्वना दे। उष्ण नि श्वासो से वायु-मण्डल भी अतिशय उष्ण हो रहा था। भरत महामाता को प्रणाम करने के लिए उसी समय वहाँ आ गये। छाई हुई मायूसी को देखा, तो एक वार चिन्तित हुए। उन्होंने विनय पूर्वक महामाता के चरण छूए और कुशल पूछा। महामाता भरत की आवाज सुनकर सहसा चौंक पडी। उन्होंने तत्काल ही ललकार की भापा मे भरत से कहा--वेटे! तू किसके पीछे दीवाना वना घूम रहा है! राज्य के नसे मे चूर होकर इतना उन्मत्त तू कैसे हो गया?

भरत यह सव कुछ सुनकर सन्न रह गये। महामाता वोलती ही जाती थी और भरत अज्ञात से खडे सुन रहे थे। महामाता वोली--"तुझे अपने पिता की कभी याद तक नही आई? क्या तू ने कभी यह समाचार भी मगाया कि ऋषभ कहाँ रह रहा है? उसकी क्या व्यवस्था है? वह सुख मे हैं या कष्ट मे?" भरत के द्वारा कुछ भी निवेदन न किये जाने पर भी महामाता ने अपने कथन की शृ खला तोडी नही। वे कहती ही जा रही थी--वेटे! ऋषभ अव तेरे क्या लगता है? माँ तो मैं हूँ। कष्ट होगा तो मुझे होगा। तुझे तो राज्य चाहिए था, वह मिल गया। तेरे तो अव आनन्द ही आनन्द है। मैं रो-रो कर रातें काट रही हूँ, पर, वुढिया की वातें कौन सुने? ज्यो-ज्यो मुँह से वातें निकलती जा रही थी, महामाता की आखो से आमुओ की धार वहती जा रही थी, हृदय की धडकन वढ रही थी और गला रुंध रहा था। भरत ने महामाता के चरण पकड लिए।

उन्हें अपनी भूल का विशेष अनुभव हुआ और शान्त, विनीत व हृदयस्पर्शी शब्दो मे निवेदन किया—"माताजी ! क्षमा करो। छद्मस्थ की भूल हो जाया करती है। आप कुछ अन्यथा न सोचें। मैं अभी जाता हूँ और आपके आदेश को क्रियान्वित करता हूँ।"

हर्ष-संवाद

कुछ उन्मन से भरत महामाता के महल से उतर आये। उनके चेहरे पर स्पष्टत विषाद झलक रहा था। वे अपने सभा-भवन में पहुँचे। विचार-मग्न सवाद-प्राप्ति का उपाय सोच ही रहे थे, द्वारपाल ने यमक और शमक के आगमन से भरत को सूचित किया। वे दोनो ही अत्यन्त प्रसन्न थे और अपने स्वामी को हर्ष-संवाद सुनाने आये थे। यमक ने कहा—महाराज ! पुरीमताल नगर के शकटानन उद्यान मे केवल ज्ञान[1] प्राप्त होने के अनन्तर भगवान् ऋषभदेव अपनी कुसुम वाटिका मे पधार गये हैं। शमक ने निवेदन किया—स्वामिन् ! आयुधशाला मे चक्र रत्न[2] उत्पन्न हुआ है।

आचार्य भिक्षु का निरूपण है कि भरत को उक्त दो हर्ष-संवादो के साथ पौत्र-प्राप्ति[3] का हर्ष-संवाद भी प्राप्त हुआ था। आचार्य जिनसेन[4] का अभिमत है कि भरत को उस समय तीन ही हर्ष-सवाद प्राप्त हुए थे, किन्तु, तीसरा सवाद पौत्र-प्राप्ति का न होकर पुत्र-प्राप्ति का था। इन सवादो की मत-भिन्नता का सम्बन्ध तीर्थ-स्थापना की घटना से जुडता है। प्रश्न यह पैदा होता है कि यदि इसी दिन पुत्र या पौत्र की प्राप्ति

---

१ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ३, श्लो० ५१२

२. त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ३, श्लो० ५१३

३ भिक्षुग्रन्थरत्नाकर, खण्ड २, रत्न १७, भरत चरित, ढाल १८, गा० १६ से १९

४ श्रीमान् भरतराजर्षि बुबुधे युगपत्त्रयम्।
गुरो. कैवल्यसम्भूतिं सूतिञ्च सुतचक्रियो ॥

—महापुराण, पर्व २४, श्लो० २

हुई हो, तो प्रथम देशना के समय दीक्षा-ग्रहण करने वाले प्रथम गणधर ऋषभसेन कौन थे ? हेमचन्द्राचार्य ने उन्हें भरत का पुत्र[1] मानते हुए दो हर्ष-सवादों का ही उल्लेख किया है। आचार्य भिक्षु ने भरत चरित मे इस प्रकरण का कोई उल्लेख नही किया है। जिनसेनाचार्य ने ऋषभसेन (वृषभसेन) को भरत का अनुज[2] माना है। उन्हें भरत का पुत्र मानने पर सहज ही यह निष्कर्ष हस्तगत होता है कि उस दिन जन्मने वाला उसी दिन दीक्षा-ग्रहण कैसे कर सकता है ? उस दिन दीक्षित होने वालो मे भरत के सातसौ पुत्र भी थे; अत. प्रथम पौत्र-उपलब्धि की बात भी इतनी संगत कैसे हो सकती है और प्रथम पौत्र-प्राप्ति के अतिरिक्त इतना हर्षातिरेक भी कैसे हो सकता था ? भगवान् ऋषभदेव एक हजार[3] वर्ष तक छद्मस्थ अवस्था मे रहे। उस समय तक भरत के पुत्र या पौत्र-प्राप्ति न हुई हो, यह भी सहसा बुद्धिगम्य कैसे हो सकता है ?

आचार्य श्री भिक्षु ने भरत चरित की रचना मे जम्बूदीपपण्णत्ति और जनश्रुति मे प्रसिद्ध घटनाँ, दोनो को ही अपना आधार बनाया है। गीतिका ८ तक उनकी रचना सूत्रानुगामिनी रही है और गीतिका ९ से ७४ तक कथानुगामिनी। यह उल्लेख उन्होने अपनी रचना मे स्पष्ट रूप से कर दिया है।[4]

भरत हर्ष में ओतप्रोत उसी समय महामाता के चरणो मे उपस्थित हुए। उन्होंने उत्साह व उल्लास भरे सवाद महामाता को निवेदित किये। विनोद के स्वर मे उन्होंने यह भी कहा—महामाता जी ! पिता जी दुःख मे हैं या सुख मे, आप स्वय चल कर देख लें। इतने दिन आपने आदेश

---

१ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ३, श्लो० ६४४

२. पीठो वृषभसेनोऽभूत् कनीयान् भरतेश्वरात्।

—महापुराण, पर्व १६, श्लो० २

३. जम्बूदीपपण्णत्ति, उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी कालाधिकार

४. भिक्षुग्रन्थरत्नाकर, खण्ड २, रत्न १७, भरत चरित, ढाल ९, दोहा १

नही किया, अत: कार्य भी नही बना। आज आदेश किया, तो काम भी बन गया है। आप तैयार हो। हम सभी उन्हे नमस्कार करने व उनका उपदेश सुनने के लिए चलते हैं।

सारा अन्त पुर, सभी राजकुमार, चारों ही प्रकार की सेना व हजारो अन्य नागरिको के साथ भरत महामाता के पीछे-पीछे भगवान् ऋषभदेव के समवसरण के सन्निकट पहुँचे। महामाता ने अपने लडाले को दूर से ही निहारा, तो आश्चर्य का ठिकाना ही न रहा। वे तो कल्पना कर रही थी, जब मैं वहाँ पहुँचूंगी, मेरा स्वागत होगा, दुःख-सुख की वार्ते होगी! किन्तु, बाबा ने तो पलक उठाकर भी नही देखा। उनकी सारी कल्पनायें विलीन व दूसरे ही संकल्प-विकल्पो मे परिणत हो गईं। उनके मन मे आया, ऋषभ! तुझे माता की ममता को इस प्रकार ठुकराना तो नहीं चाहिए था। कम-से-कम एक बार भी उसकी गहराई को अवश्य आंकना चाहिए था। मेरे मन मे तो बडी उमंगें थी और उनसे प्रेरित होकर ही तो मैं तेरे पास आई थी। तेरी इस निस्पृहता का कारण तो मेरी समझ से बाहर का विषय बन रहा है।

प्रथम सिद्ध

ज्यो-ज्यो महामाता निकट पहुँचती जा रही थी, उनके विचारो मे भी ज्वार आता जा रहा था। किन्तु, अचानक उसमे नया मोड आया। उन्होंने अपने आपको सम्बोधित करते हुए ही कहा—री! तू क्या सोच रही है? ऋषभ तो अब बहुत ऊँचा उठ चुका है। ममता से समता मे और राजत्व से आत्मत्व मे स्थित हो चुका है। माता, पुत्र, कलत्र, परिवार आदि के बन्धन से उपरत है। तू तो इस अपरिमेय को इस प्रकार परिमिति मे सीमित कर रही है। तेरे मन मे बन्धन है, अत. इसको भी इसमे समेट रही है पर, यह सर्वथा भूल है।

परिणामो की उज्ज्वलता बढी। आत्मा की सहज ऋजुता ने उसमे सहयोग किया। सत्यं शिवं, सुन्दरम् के चिन्तन का द्वार खुला। अनन्तानु-

वन्धी कषाय-चतुष्क का क्षय हुआ। प्रथम गुणस्थान से चतुर्थ गुणस्थान मे प्रवेश हुआ। क्षायक सम्यक्त्व की प्राप्ति हुई। प्रत्याख्यानावरणी व अप्रत्याख्यानावरणी कषाय-चतुष्क की समाप्ति हुई, तो सप्तम गुणस्थान तक पहुँच गई। सामायिक चारित्र का उदय हुआ। अष्टम गुणस्थान से क्षपक श्रेणी का अवलम्वन किया और क्रमशः वेद समाप्त किये। सूक्ष्मसम्पराय चारित्र प्राप्त किया व वारहवें गुणस्थान मे पहुँच कर मोह कर्म को समाप्त किया। अपूर्व करण के क्रम से यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति हुई और घाती त्रिक की समाप्ति से तेरम गुणस्थान मे केवल ज्ञान की उपलब्धि हुई। भावो की उज्ज्वलता वढती जा रही थी और आयु की परिसमाप्ति भी हा रही थी। शैलेशी अवस्था मे पहुँची और योगो के निरोध से अन्तकृत् केवली के रूप मे सिद्ध, वुद्ध व मुक्त वनी। हाथी पर सवार थी। गृहस्थ का वेष था। पुत्र को कडे-कडे उपालम्भ देने की मन मे आकाक्षा थी। किन्तु, विचारो के परिवर्तन ने जीवन को नूतन परिवर्तन प्रदान किया और उसके फलस्वरूप महामाता मरुदेवा इस अवसर्पिणी काल-चक्र मे प्रथम सिद्ध हुई। इस सारी प्रक्रिया मे इतना अल्प समय लगा कि लिखने या कहने मे उससे वहुत समय की अपेक्षा होती है।

मृतक का सत्कार

एक ओर महामाता विचारो से क्षपक श्रेणी मे आरूढ़ होकर मुक्त वन रही थी और दूसरी ओर भगवान् ऋषभदेव समागत जनता को धर्मोपदेश दे रहे थे। प्रवचन के वीच महामाता के लिए वावा का वाक्य निकला 'मरुदेवा भगवई सिद्धा' भगवती मरुदेवा सिद्ध हो गई है। जनता यह सुनकर सन्न रह गई। सवकी दृष्टि पीछे मुडी और उन्होने गजारूढ़ के रूप मे महामाता के अन्तिम दर्शन किये। भरत को उनकी मृत्यु से हार्दिक दु ख हुआ, पर, जव उन्हे यह पता चला कि वे सिद्ध हुई हैं, सान्त्वना भी मिली। देवो ने उनके मृत शरीर का सत्कार[1] किया,

---

१ एतस्यामवसर्पिण्या सिद्धोऽसौ प्रथमस्तत ।
सत्कृत्य तद्वपु क्षीरनीरधौ निदधेऽमरैः ॥५३१

अर्चा की और उसे क्षीर सागर मे विसर्जित कर दिया। मृत शरीर की सत्कारपूर्वक संस्कार-क्रिया की वह आदि घटना थी। इससे पूर्व यौगलिक व्यवस्था मे ऐसा नही होता था। क्योकि उस समय केवल एक युगल की ही समष्टि हुआ करती थी। न परिवार था, न समाज और न मिलना-जुलना, अतः युगल की समाप्ति पर उनका संसार ही समाप्त हो जाया करता था। मृतक का सत्कार या उसके अन्य प्रकार तब तक व्यवहृत नही हुए थे।

वायु मण्डल की अत्यन्त स्निग्धता के कारण तब तक अग्नि का आविर्भाव भी नही था। यौगलिको के मृत शरीर को समीपवर्ती वन मे रहने वाले भारण्ड[1] पक्षी उठाकर ले जाते थे और किसी समुद्र मे या गंगा आदि किसी बडी नदी में उसे विसर्जित कर दिया करते थे।

शव-दहन

शव के विधिवत् दहन की क्रिया का आरम्भ भगवान् ऋषभदेव के निर्वाण के अनन्तर हुआ। अष्टापद पर्वत पर पादोपगमन अनशन मे भगवान् ने जब शरीर-त्याग किया, तो शक्रेन्द्र व ईशानेन्द्र आदि के द्वारा चक्रवर्ती भरत की उपस्थिति मे भगवान् को क्षीरोदक से स्नान कराया गया, गोशीर्ष चन्दन का अनुलेप किया गया, हंस-चित्रित सुन्दर वस्त्र पहनाये गये और उनके शरीर को सभी प्रकार के अलंकारो से विभूषित

तदादि च प्रववृते लोके मृतकपूजनम्।
यत्कुर्वन्ति महन्तो हि तदाचाराय कल्पते ॥५३२

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व ?, सर्ग ३

१ क—पुरा हि मृतमिथुनशरीराणि महाखगा।
नीडकाष्ठमिवोत्पाट्य सद्यश्चिक्षिपुरम्बुधौ ॥
अम्बुधेरुपलक्षणत्वाद्यथायोग गगाप्रभृतिनदीष्वपि इति ज्ञेयम्।

—श्रीऋषभचरित्र

ख—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग २, श्लोक ७२७

किया गया। तदनन्तर शव को शिविका मे रखकर गोशीर्ष चन्दन से निर्मित चिता तक ले गये। अगुरु, तुरुष्क, मधु, घृत डालकर चिता को प्रज्ज्वलित किया गया। दाह-क्रिया सम्पन्न होने पर क्षीरोदधि के निर्मल जल से चिता को शान्त किया गया। इसी प्रकार गणधरो व अन्य मुनियो का भी शव-सस्कार किया गया। शक्रेन्द्र व ईशानेन्द्र द्वारा वहाँ तीन चैत्य स्तूप भी बनाये गये।[१]

तीर्थ-स्थापना

महामाता के निर्वाण से भरत अत्यन्त खिन्न हुए। उन्मन हो वे समवसरण मे आये, भगवान् ऋषभदेव को नमस्कार किया और उपदेश सुनने के लिए यथास्थान बैठ गये। भगवान् ने प्रवचन किया और उससे प्रेरित होकर भरत के पुत्र ऋषभसेन ने अपने पाचसौ भाइयो व सातसौ भतीजो के साथ दीक्षा ग्रहण की। भरत के पुत्र मरीचि ने भी निर्ग्रन्थ धर्म स्वीकार किया। ब्राह्मी व सुन्दरी साध्वी बनी। श्रेयान्स प्रभृति श्रावक बने और सभुद्रा प्रभृति श्राविकाएँ बनी। हेमचन्द्राचार्य का मत है कि ब्राह्मी भी साध्वी बनना चाहती थी, पर, भरत ने उसे अनुज्ञा प्रदान नही की, अत वह प्रथम श्राविका बनी।

कच्छ, महाकच्छ आदि साधना-भ्रष्ट चार हजार तापस भी उस समय समवसरण मे उपदेश सुनने के लिए आये हुए थे। कच्छ, महाकच्छ आदि को छोड कर शेष सभी तापसो ने भगवान् के पास पुन. प्रव्रज्या ग्रहण की। ऋषभसेन (पुण्डरीक) प्रथम गणधर हुए और उन्होने अन्य तिरासी गणधरो के साथ गणिपिटक की रचना की।

साम्राज्यवादी लिप्सा का विस्तार

कुलकर-व्यवस्था के आरम्भ से यौगलिक व्यवस्था (व्यष्टि) क्रमश. टूटती गई और समष्टि के अकुर फूटने लगे, जिनका कि पूर्णत विस्तार

---

१. जम्बूदीपपण्णत्ति तथा आवश्यक चूर्णि, पृ० २२२

भरत के समय तक हो चुका था। ग्राम-नगरो का व्यवस्थित निर्माण, वापी, कूप, सरोवर व उद्यानो का निर्माण भी मनुष्य की अपनी आकांक्षाओ की पूर्ति व सुख-साधनो की उपलब्धि के लिए हो चुका था। समष्टि-व्यवस्था ने अह और अधिकार-प्राप्ति मे भी मनुष्य को व्यग्र वना दिया था। छोटे-छोटे राज्य भी वन गये थे और उनके सरक्षण के लिए सैनिक वल व अस्त्र-शस्त्रो का भी काफी विकास हो गया था। सघर्ष का आरम्भ और दमन का चक्र चलने लगा था। जव तक भगवान् ऋषभदेव गृहस्थाश्रम मे रहे, संघर्ष व दमन-नीति को खुलकर पनपने का अवसर प्राप्त नही हुआ, क्योकि वे सवके श्रद्धेय थे। उनके आदेश का उल्लघन करना व उनकी इच्छा के विरुद्ध आचरण करना कोई भी नही चाहते थे। मनुष्य भी स्वभावत. सरल थे। फलत. सव व्यवस्थाओ के होते हुए भी और सव के पास न्यूनाधिक मात्रा मे अधिकार होने पर भी साम्राज्यवादी लिप्सा का विस्तार नही के वरावर था।

भरत के पास अन्य भाइयो और राजाओ के राज्यो से वडा राज्य था। वावा के उत्तराधिकारी के रूप मे उन्हे अयोध्या राजधानी व सुदूर तक शासन करने का अधिकार मिला था। उन्हें कुछ अहं भी था। जव से आयुधशाला मे चक्र रत्न की प्राप्ति हुई, उनका वह अहं और उद्दीप्त हो गया। सारे भरत क्षेत्र का शासन-सूत्र संभालने के वे स्वप्न देखने लगे। भगवान् ऋषभदेव के केवल ज्ञान-प्राप्ति के संवाद के साथ ही उन्हे चक्र-उपलब्धि का सवाद भी मिला था, किन्तु, लौकिक की अपेक्षा मे लोकोत्तर की महत्ता अधिक होती है; अत. चक्र-पूजा के पूर्व भरत वावा के समवसरण मे महामाता के साथ गये थे और उपदेश-श्रवण कर लौटते समय आयुधशाला मे गये। भरत ने चक्र को देखते ही नमस्कार किया, क्योकि क्षत्रिय[1] शस्त्र को ही देव मानते हैं। उसकी विविध प्रकार से पूजा की और आठ दिन तक उसका उत्सव मनाया।

---

१ मन्यते क्षत्रिया ह्यस्त्रं प्रत्यक्षमधिदैवतम्।

—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ४, श्लोक २

क्षेत्र-मान का आरम्भ

चक्र की प्राप्ति से भरत फूले नही समा रहे थे, क्योकि अब उनका कोई शत्रु या उनके आदेश की अवहेलना करने वाला मनुष्य इस पृथ्वी पर जीवित रह नही सकता था। चक्र जिधर से चल पडा, उधर भरत की निश्चित विजय थी और लडने वाले का विनाश। भरत ने दिग्विजय के उद्देश्य से अपनी सेना को सुसज्जित किया और एक दिन मगल वेला में पूर्व दिशा की ओर प्रयाण कर दिया। आगे-आगे चक्र और उसके पीछे दण्ड-रत्न को ग्रहण कर सेनापति सुषेण सेना का नेतृत्व करते हुए चलने लगा। गज, अश्व, रथ और पादातिको की अपार सेना अपने-अपने शस्त्रो से सज्जित होकर वडे उत्साह के साथ चल पडी। भरत भी सन्नद्ध होकर वडी उमग के साथ निकल पडे। चक्र पहले दिन एक नियत क्षेत्र को पार कर आगे चलता हुआ रुक गया। सेना ने भी वही पडाव डाला। उस समय तक क्षेत्र का कोई मान प्रचलित नही था। सेना के प्रयाण-स्थान और विश्राम-स्थान के वीच के क्षेत्र को उस दिन से एक योजन[1] का मान दिया गया तथा वह स्वीकृत होकर व्यवहार मे प्रयुक्त होने लगा। भरत उसी मान से प्रतिदिन एक-एक योजन आगे प्रयाण करते और फिर विश्राम।

आदिवासी सभ्यता

दिग्विजय करते हुए भरत ने क्रमशः पूर्व दिशा मे मगध तीर्थ के राजा कुमार देव को, दक्षिण दिशा मे समुद्र के तटवर्ती वरदाम तीर्थ के राजा वरदामपति को, पश्चिम मे प्रभास तीर्थ के राजा प्रभासदेव को अपना अनुचारी वना लिया। समुद्र के दक्षिण-पश्चिम तट पर, सिन्धु नदी के समीपवर्ती अनेक राज्यो मे घूमते हुए ईशान कोण मे वैताढ्य पर्वत के पास

---

१. गत्वा योजनपर्यन्ते तच्च चक्रमवास्थित.।
जज्ञे योजनमान च तत्प्रयाणानुमानतः॥
—त्रिपष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ४, श्लोक ५६

तमिस्रा गुफा को पार करते हुए भरत क्षेत्र के उत्तरार्ध मे पहुँचे । "उस क्षेत्र मे आपात जाति के उन्मत्त भील रहते थे । वे दानवो की तरह भयावह थे । धनवान्, बलवान् और तेजस्वी थे । उनके पास आवास के लिए बडी-बडी अट्टालिकाएँ, शयनागार, आसन व नाना प्रकार के वाहन थे । उनके पास सोने और चाँदी की अपार सम्पत्ति थी; अत. वे कुबेर के वंशज जैसे लगते थे । उनके कुटुम्ब बडे-बडे थे और उनके अनेक दास-दासी भी थे । वे बहुत दुर्जेय थे । युद्ध करने के लिए उनकी भुजाएँ प्रतिदिन फडका करती थी ।"[1]

"युद्ध मे कछुए की पीठ की हड्डियो से बने हो, ऐसे अभेद्य कवच, भालू के केशो के शिरस्त्राण व सीग के बने हुए धनुष व्यवहृत करते थे । इनके अतिरिक्त तलवार, दण्ड, भाले, त्रिशूल, लोहे की शलाका व मुद्गर आदि उनके प्रमुख हथियार थे ।"[2] भरत ने उन पर चढाई कर दी और दोनो सेनाओ मे भीषण सग्राम ठना । किरातो की सेना ने चक्रवर्ती की सेना का अच्छी तरह से मर्दन किया और बहादुरी के साथ उसे पीछे ढकेल दिया ।

---

१. किरातास्तत्र निवसन्त्यापाता दुर्मदा. ।
आढ्या महौजसो दीप्ता भूमिष्ठा इव दानवा. ॥३३६॥
तेऽविच्छिन्न महाहर्म्यशयनासनवाहना. ।
अनल्पस्वर्णरजता' कुबेरस्येव गोत्रिण ॥३३७॥
बहुजीवघनाम्ते च बहुदास परिच्छदाः ।
अजाताभिभवा प्राय सुरोद्यानद्रुमा इव ॥३३८॥
अनेक सम्परायेषु निर्व्यूढ बलशक्तयः ।
महाशकटभारेषु महोक्षा इव ते सदा ॥३३९॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ४

२ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र पर्व १, सर्ग ४, श्लोक ३५८ से ३६८ के आधार पर ।

ब्रह्माण्ड की कल्पना का आधार

सेनापति सुषेण ने जब अपनी सेना को पीछे खिसकते देखा, तो किरातो पर गुस्से मे भर आया। घोडे पर सवार होकर चमचमाती हुई तलवार को घुमाते हुये वह अपनी सेना के आगे आकर डट गया। सैनिको का टूटा हुआ साहस फिर से जागृत हुआ और अपने पौरुष को सँभालते हुए शत्रु को सेना के साथ जूझने लगे। थोडी ही देर मे भरत की सेना गरजने लगी और किरातो के छक्के छूट गये। अपने-अपने प्राण बचाने के लिए वे दशो दिशाओ मे दौड गये।

पराजय से उद्वेलित होकर कुछ प्रमुख किरात एकत्रित हुए और युद्ध के भावी कार्यक्रम के बारे मे अपनी-अपनी योजनाएँ प्रस्तुत करने लगे। पराधीनता स्वीकार नही थी और भरत की सेना के समक्ष उनका सामर्थ्य व साधन अल्प थे, अत किसी दैविक सामर्थ्य की खोज मे लगे। उन्होंने तीन दिन का उपवास कर मेघमुख कुलदेव का ध्यान किया। भक्ति से प्रेरित होकर देव प्रकट हुआ। किरातो की विजय-लिप्सा को जाना, तो उसने उन्हे स्पष्ट रूप से सूचित किया कि भरत भावी चक्रवर्ती है। उसे कोई भी शक्ति पराजित नहीं कर सकती, अत इस सकल्प को त्याग देना चाहिये। किरात नही माने। उन्होंने देव से कहा—पराजित न भी हो, तो पीडित तो अवश्य होना चाहिए। देव को वैसा करने के लिए बाधित होना पड़ा।

क्षण भर मे आकाश काले-काले बादलो से भर गया और चक्रवर्ती की सेना पर मूसलाधार बरसने लगा। भूमि जलमग्न हो गई और सेना दुःसाध्य कष्ट मे पड गई। विकट समस्या उपस्थित हो गई। भरत ने चर्म रत्न को हाथ मे उठाया। संकल्प मात्र से ही वह फैला और सारी सेना जैसे घन समुद्र के ऊपर पृथ्वी ठहरती है, वैसे उस पर सुखपूर्वक आसीन हो गई। वह भूमि पानी मे तैरते हुए काष्ठ-खण्ड की तरह प्रतीत होने लगी। भरत ने अपना छत्र रत्न उठाया, तो सारी सेना मूसलाधार

वृष्टि से भी रहित हो गई। जितने स्थान मे सेना थी, उतने स्थान के उन्नत हो जाने से नीचे के पानी से और उस पर छत्र हो जाने से वर्षा के पानी से उसकी सुरक्षा हो गई। समस्या अँधेरे की रह गई। भरत ने अपना मणि रत्न उठाया और उसे छत्र के ऊपर स्थापित कर दिया। जैसे सूर्य हो उदित हो गया हो। सेना का पानी व अन्धकार से वचाव हो गया। छत्र व चर्म का वह सम्पुट पानी मे तैरते हुए अण्डे की आकृति वना रहा था। ब्रह्माण्ड[1] की कल्पना का भी आधार वह सम्पुट वना और उसके वाद कुछ दार्शनिको ने उक्त आकार के रूप मे ब्रह्माण्ड की कल्पना को प्रमाणित भी किया।

सात दिन के वाद वर्षा शान्त हुई और अन्तत. किरातो को भरत की अधीनता स्वीकार करनी पडी। भरत वहाँ से भी आगे वढे। ऋषभकूट से लौटते हुए नमि और विनमि के राज्य की ओर भी प्रयाण किया। वारह वर्ष तक दोनो सेनाओ मे घमासान युद्ध हुआ और अन्त मे नमि व विनमि ने भी भरत की अधीनता स्वीकार कर ली। विनमि ने अपनी सुभद्रा नामक कन्या और नमि ने वहुमूल्य रत्न भरत को भेंट किये। सुभद्रा भरत के चौदह रत्नो मे स्त्री रत्न वनी।

खण्ड प्रपाता गुफा मे से सेना आगे वढी। गगा के पश्चिम तट पर छावनी डाली गई। वहाँ भरत को नैसर्प, पाण्डुक, पिंगल, सर्वरत्नक, महापद्म, काल, महाकाल, माणवक, और शख, ये नौ निधियाँ प्राप्त हुई।

दिग्विजय का उल्लास

सर्वत्र विजयश्री प्राप्त कर साठ हजार वर्षों के वाद भरत पुन अयोध्या लौटे। नागरिको मे अपार हर्ष था। भरत का अपूर्व स्वागत

---

१. तरद्दण्डमिवाराजत् सम्पुट छत्रचर्मणो।
तत प्रभृति लोकेभूद् ब्रह्माण्डमिति कल्पना॥ ४३३॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १, सर्ग ४

किया गया। बारह वर्ष तक विजय-उल्लास मनाया जाता रहा। सभी अधीन राजा आए और भरत का चक्रवर्ती के रूप मे अभिषेक किया गया।

भरत व उसके अट्ठानवे भाई

विजयोत्सव के उपलक्ष मे चक्रवर्ती भरत एक दिन सभा मे बैठे थे। हजारो मण्डलपति राजा और सम्भ्रान्त नागरिक उपस्थित थे। भरत ने सरसरी नजर से सबको निहारा। उसे अपने छोटे अट्ठानवे भाइयो मे से एक भी उस परिषद् मे दृष्टिगत नही हुआ। सरोष आश्चर्य हुआ। ऐसे उल्लास के समय उनकी अनुपस्थिति भरत को बहुत अखरी। रोष ने प्रतिशोध का रूप धारण किया, तो आखें आग उगलने लगी और होठ फडकने लगे। उसी समय भरत ने सबके पास दूत भेजे और नही आने के लिए 'कारण बताओ' का नोटिस दे दिया।

सभी भाइयो के पास एक साथ अलग-अलग दूत पहुँचे और भरत के इङ्गित से उन्हे पूर्णत अवगत किया। भरत का जब यह सकेत उन्होने सुना कि विजयोत्सव मे सम्मिलित होने के लिए अयोध्या आओ और अपना सर्वस्व न्यौछावर कर मेरे समक्ष झुको, तो उनके स्वाभिमान को गहरी चोट लगी। कोई भी ऐसा करने को तैयार न हुआ। दूतो के साथ सभी ने अपनी मनोभावनाएँ स्पष्टतया व्यक्त कर दी और अयोध्या आकर विजय-उत्सव मे भाग लेने के लिए इन्कार कर दिया। सभी का एक ही उत्तर था कि सारे ही भाई बराबर हैं। छोटे-बडे का भाव किसी के लिए भी शोभास्पद नही। भरत यदि अपनी अहमन्यता के आधार पर हमे कुछ हीन समझकर अपना गौरव बढाना चाहता है, तो यह उसके लिए उचित नही। उसका यदि भ्रातृत्व की पृष्ठभूमि पर वात्सल्य होगा, तो हमारे हृदय मे भी सहज स्नेह के साथ श्रद्धा उमडेगी। किन्तु, वह बडा है, इसलिए यदि हठपूर्वक हमे शासित करना चाहे, तो यह कभी भी स्वीकार नही होगा। हमको राज्य पिताजी ने प्रदान किए हैं, भरत ने नही। वह

हमारे राज्य किस आधार पर छीनना चाहता है। यदि वह बल-प्रयोग करेगा, तो हम भी उसी पिता के पुत्र हैं। पीछे नहीं रहेंगे।

भगवान ऋषभदेव के समवसरण में

सभी भाई एकत्रित हुए और भरत की साम्राज्यवादी मनोवृत्ति की भर्त्सना की। सर्वसम्मति से यह निर्णय हुआ कि आज चाहे युद्ध न हो, किन्तु, यह मानसिक विभेद बढ़ता जायेगा और एक दिन युद्ध की परिस्थिति पैदा हो जायेगी, इसलिए सुन्दर होगा कि पिताजी से वस्तुस्थिति निवेदित कर दी जाये और उनसे ही मार्ग-दर्शन प्राप्त किया जाये।

बातों ही बातों में अष्टापद पर्वत पर, जहाँ भगवान् ऋषभदेव का समवसरण लगा हुआ था; सभी भाई पहुँच गये। नमस्कार किया और विषाद के स्वर में निवेदन किया—प्रभो! भरत को और हम सबको आपने यथायोग्य अलग-अलग राज्य प्रदान किये थे। हम अपने राज्य से सन्तुष्ट हैं। राज्य के विस्तार की आकांक्षा को हम हेय समझते हैं। अपने पास जो है, वह पूर्ण है, अच्छा है, अत हम उसमें संतुष्ट हैं और हम उससे अधिक पाने की लालसा को त्याज्य मानते हैं। आपके द्वारा बनाई गई मर्यादा हमारे लिए अनुल्लंघ्य है। किन्तु, भरत की आकांक्षा इसके सर्वथा प्रतिकूल है। वह आप द्वारा दिए गये राज्य से सन्तुष्ट नहीं हुआ, अत. दूसरों के राज्य हड़पने के लिए भी निकला और उसमें वह सफल भी हुआ। किन्तु, अभी तक वह तृप्त नहीं हुआ है। उसके दूत हमारे पास भी आये और उन्होंने कहा—सेवा करो या राज्य-त्याग करो। वह राज्य के गर्व में है, अत भ्रातृत्व का सम्बन्ध भी भूल गया है और अपने विचार हम सब पर लादना चाहता है। वह अन्याय पर उतर आया है। यद्यपि वह बड़ा भाई है, पर, उसके कथन मात्र से ही हम उसकी अधीनता कैसे स्वीकार कर लें? हम उसके इस तरह के अन्याय को कैसे सहन कर सकते हैं? वह राज्य छीनने पर उतारू है और हम अपने स्वाभिमान व स्वाधीनता की सुरक्षा के लिए कृतसंकल्प हैं। हम युद्ध करना नहीं चाहते,

किन्तु, किसी भी समय युद्ध छिड जाये, तो आप हमे उलाहना मत देना। हमने अपनी स्थिति आपके समक्ष इसलिए स्पष्ट कर दी है।

भगवान ऋषभदेव का पुत्रों को उपदेश

भगवान् ऋषभदेव ने अपने अट्ठानवे ही पुत्रो को आश्वस्त करते हुए कहा पुत्रो! मिट्टी (भूमि) के लिए युद्ध करना नादानी है। युद्ध को टालने का तुम्हारा प्रयत्न प्रशस्य है। भाई से तो कभी भी नही लडना चाहिये। उसमें तो अपयश ही हाथ लगता है, चाहे कोई भी पक्ष हारे व जीते। वैभव व साम्राज्य के अखाडे मे कितने व्यक्ति भूतकाल मे उतरे, इसकी कोई गणना नही है। इसमे जो हार गये, उनका तो नशा चूर-चूर हुआ ही, किन्तु, जो जीते वे भी हारे हुए व्यक्तियो से कम नही रहे—अधिकारो की मादकता मे व्यक्ति अन्धा हो जाता है और फिर वह आगे-पीछे कुछ भी नही देख सकता। तुम सबने सघर्ष टाल दिया, यह बहुत सुन्दर किया। इसमे तुम्हारा और तुम्हारे इक्ष्वाकु वश का आदर्श अक्षुण्ण रहा है।

पुत्रो के मन मे वैराग्य भावना अकुरित करने के उद्देश्य से भगवान् ऋषभदेव ने आगे कहा—सम्पत्ति और राज्य के छीने जाने का भय हर समय बना रहता है। ये तो दोनो ही नश्वर हैं। आज किसी के पास है और कल किसी के पास। इनसे कभी तुम्हारा त्राण होने का नही। तुम्हारे त्राण के लिए, सुख, समृद्धि व वैभव के लिए एक राज्य और है, जिसे कोई भी शक्तिशाली छीन नही सकता और न वहा किसी प्रकार का आघात ही पहुँचाया जा सकता है। न उसका बटवारा हो सकता है और न वहाँ विद्रोह की आग ही भडक सकती है। उसकी सुरक्षा के लिए किसी प्रकार की सेना की आवश्यकता नही है। वहाँ के विशाल भण्डारों मे अक्षय धन है, जिसमे से यथेच्छ उपभोग करने पर भी किसी प्रकार की रिक्तता नही होती। यदि चाहो, तो मैं तुम्हे वह राज्य दे सकता हूँ। फिर भरत के आतक से तनिक भी चिन्तित होने की तुम्हे कोई व्यग्रता

नहीं होगी। सारे ही भाई एक स्वर में बोल पड़े—यदि हमे ऐसा राज्य मिल जाता है, तो हम यह राज्य प्रसन्नतापूर्वक भरत के लिए पुण्यार्पण कर देंगे। हमे तो ऐसा ही राज्य चाहिए।

भगवान् ऋषभदेव की वाणी से अमृतोपम उपदेश-धार निकली। उन्होने कहा— पुत्रो ! पूर्व जन्म मे स्वर्ग-सुखो से भी तुम्हारा मन नही भरा, प्रत्युत उससे तृष्णा भडकती ही रही। इस मानव के जीवन मे जहाँ सुख के साधन सीमित व क्षणक्षयी हैं, तुम उनसे शाश्वत सुख की कल्पना करते हो, यह व्यर्थ है। कोयलों की खान मे काम करने वाले उस व्यक्ति का स्मरण करो, जो एक मशक पानी से भर कर निर्जल जगल मे निकल पडा था और दूर चला गया था। दोपहर की कडकडाती धूप ने उसे क्षत-विक्षत कर दिया था। प्यास से वह अत्यन्त अकुलाने लगा था। उसने मशक का सारा पानी एक सास मे ही पी डाला था, पर, प्यास शान्त नही हुई थी। वह वही कही वृक्ष की छाया मे लेट गया। नींद मे उसने स्वप्न देखा कि वह घर पहुँच गया। पूरे मटके का पानी पी गया, पर, प्यास शान्त नही हुई। कुँआ, वापी और सरोवर का भी सारा पानी पी गया, फिर भी प्यासा ही रहा। समुद्र के तट पर गया और उसे भी अपने उदर मे समा गया; फिर भी प्यास मे अकुलाता ही रहा। आखिर मरुस्थल में एक कुँए पर पहुँचा। पानी बहुत गहरा था। पास मे लोटा भी नही था। उसने दूब का एक पुला बाँधा और उस कुँए मे इस उद्देश्य से उतारा कि कुछ पानी तो इसमे समा ही जायेगा और उसे निचोड कर मैं अपनी प्यास बुझा लूँगा। किन्तु, उस गहरे कूँए से जब अपना पुला बाहर निकाला, तो उसमे समाया हुआ काफी पानी तो पहले ही टपक गया था। बचा-खुचा जो भी बाहर आया, उसने उसे अपने मुँह में निचोडा और प्यास बुझाने का असफल प्रयत्न किया। किन्तु, जो प्यास सरोवरो व समुद्र के पानी से भी शान्त न हो सकी, क्या उस पानी से कभी शान्त हो सकती थी ? इसी तरह स्वर्ग के अपरिमित सुखो के उपभोग से भी यदि तुम्हारा मन नही भरा, तो फिर इस प्रकार के नश्वर राज्यो के उप-

भोग से कैसे भर सकता है ? वास्तविक सुख राज्य-सापेक्ष व वैभव-सापेक्ष नही है। वह तो आत्म-सापेक्ष है। वह तो स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग, समाधि व सयम से ही प्राप्त होता है। वोधि-प्राप्ति, व्रत-ग्रहण और क्रमशः योगो के अवरोध से वह पैदा होता है; अतः हे पुत्रो ! जागृत होओ और अपने दुष्प्राप्य विवेक का सम्यक् उपयोग करो। सुख तुम्हारे शरीर की छाया की तरह तुम्हारे साथ दौडेगा। यह राज्य स्थायी है, व्याघात रहित है, अत. इस ओर प्रवृत्ति करो।

अट्ठानवे ही भाइयो के हृदय मे विवेक जागृत हुआ। एक अभिनव चेतना से उनका मानस उद्दीप्त हुआ और उसी समय सविग्न वनकर ऋषभदेव के चरणो मे प्रव्रजित हो गये। वे अपने राज्यो मे पुन. नही लौटे और भरत के चरणो मे नही झुके। अट्ठानवे ही भाइयो के पुत्र राजा वने और फिर उन्होने अपने पितृ-स्थानीय राजा भरत की अधीनता स्वीकार कर ली।

दिग्विजय की अपूर्णता

अट्ठानवे ही भाइयो द्वारा स्वेच्छया प्रव्रज्या ग्रहण से भरत को किसी भी तरह का संघर्ष नही करना पडा, अतः उन्हें हर्ष हो रहा था। पर, वन्धु-प्रव्रज्या-ग्रहण के लोकापवाद रूप विषाद ने विना युद्ध राज्य-प्राप्ति के हर्ष को किरकिरा कर दिया, किन्तु, कुछ दिनो मे स्थिति सामान्य हो गई। भरत का साम्राज्य पूरे भरत क्षेत्र मे छा चुका था। सहसा एक दिन सुषेण सेनापति ने आकर सम्राट् भरत को सूचना दी कि चक्र अभी तक अपना स्थान ग्रहण नही कर रहा है। सभी अस्त्र-शस्त्र आयुधशाला में यथास्थान प्रतिष्ठित कर दिये गये है, पर, वहुत सारे प्रयत्न करने पर भी चक्र आयुधशाला मे प्रवेश नही कर रहा है। वाहर ही घूम रहा है, अतः यह ज्ञात होता है कि हमारी दिग्विजय अभी तक पूर्ण नही हुई है।

सभा मे सन्नाटा छा गया। सवने अपनी-अपनी कल्पनाएँ दौड़ाई,

पर, ऐसा कोई भी नाम स्मृति मे नही आया, जो सम्राट् भरत की अधीनता का अपवाद हो।

महामात्य ने सम्राट् भरत तथा अन्य सभासदो का ध्यान आकर्षित करते हुए कहा--"हमने सारे भूमण्डल पर विजय प्राप्त की है, किन्तु, लगता है, हमारे समक्ष विजय का वडा टेढा प्रश्न अभी तक खड़ा है। हमने दूर-दूर तक के राजाओ को नमाया है, पर, दिये तले अँधेरा रह गया है। हमे अन्यत्र दृष्टि न दौडाकर अपने घर को ही सँभालना चाहिये। यद्यपि आपके अट्ठानवे अनुज निर्ग्रन्थ हो गये हैं, किन्तु, एक अनुज बाहुवली अभी अवशिष्ट हैं। वे विजयोल्लास मे भी सम्मिलित नही हुए हैं। वड़े स्वाभिमानी है और सहसा अधीनता स्वीकार भी नही करेंगे। चक्र का अपने स्थान पर न पहुँचना स्पष्टत. यही परिलक्षित कर रहा है।"

थोडे से वाद-विवाद के अनन्तर यह विचार सर्वसम्मति से स्वीकृत हो गया। समय रहते ही भाई को सावधान करने के लिए भरत ने सुवेग दूत को तक्षशिला भेजा। राजा वाहूवली ने दूत का केवल औपचारिक स्वागत किया और व्यवहार निभाने के निमित्त ही भरत के कुशल-सवाद पूछे। सुवेग द्वारा अपने स्वामी के पक्ष को उपस्थित किए जाने के अनन्तर वाहुवली की आखें लाल हो गईं, भुजाएँ फडकने लगी और सारी ही धमनियो मे खून खौलने लगा। वाहुवली ने व्यग-प्रहार करते हुए स्पष्ट कह दिया — भरत को केवल मेरी यही अपेक्षा है कि मैं उसे नमस्कार कर उसका चक्र आयुधशाला में पहुचा दूँ। वह अपने को चक्रवर्ती प्रमाणित करने क लिए मुझे बुला रहा है, भ्रातृत्व के नाते नही। यदि वह भ्रातृत्व-शून्य है, तो मुझे भी उसकी इतनी अपेक्षा नही है। उसने अन्य राजाओ को झुकाकर विजय का गर्व किया है, पर, मैं उसके सामने कभी भी झुककर नही चलूँगा। आक्रान्ता होकर मैं नही आऊँगा, पर, यदि वह अपनी लालसाओं के वश आक्रामक होकर आयेगा, तो मैं उससे टलने वाला भी नही हूँ। साठ हजार वर्षों तक नाना युद्ध कर उसने जो विजयश्री प्राप्त की है, मेरे लिए अच्छा अवसर है कि वह मुझे सौंपने के लिए यहाँ चला आये।

सभासदों व नागरिकों पर प्रतिक्रिया

दोनो ही ओर भ्रातृत्व के आधार पर कुछ भी नहीं सोचा जा रहा था। भरत को अपने अपार सैन्य वल पर गर्व था, तो वाहुवली को अपने अपरिमित भुजा-वल का गर्व था। वाहुवली ने सुवेग दूत को और भी वहुत सारी कडवी-मीठी वातें सुनाइं। दूत का वहाँ कोई सत्कार नही किया गया, वल्कि उसे अपमानित करते हुए सभा से वहिष्कृत किया गया। दूत-आगमन का जव सभासदो व नागरिको को पता चला, तो उस पर तीखे व्यग-प्रहार करते हुए वे कहने लगे·

"राज-सभा से यह अजनवी कौन निकला ?"

"राजा भरत का दूत ज्ञात होता है।"

"इस भूमण्डल पर वाहुवलो के अतिरिक्त दूसरा भो कोई शासक है क्या ?"

"हाँ, वाहुवली के वडे भाई भरत अयोध्या के राजा हैं।"

"इस दूत को उन्होंने यहाँ क्यो भेजा है ?"

"अपने भाई और हमारे कुशल प्रशासक वाहुवली को वुलाने के लिए।"

"अरे! हमारे राजा के भाई इतने दिन तक कहाँ गये थे ?"

"भरतक्षेत्र के छ खण्ड जीतने के लिए।"

"अपने भाई को वुलाने की अभी उन्हे इच्छा क्यो हुई ?"

"दूसरे सामान्य राजाओं की तरह सेवा कराने के लिए।"

"सारे राजाओ को जीतकर अव वह इस शूलि पर चढना क्यों चाहता है ?'

"अखण्ड चक्रवर्तित्व का अभिमान है।"

"छोटे भाई से हारा हुआ, वह अपना मुँह कहाँ छुपायेगा ?"

"सर्वत्र विजयी होने वाला व्यक्ति भावी की हार को नही पहचान सकता।"

"भरत के मन्त्रियो मे क्या कोई चूहे के समान भी नही है ?"

"कुलक्रम से वने हुए अनेक वुद्धिमान् मन्त्री हैं।"

हजार योद्धाओ की पूरी शक्ति लगने पर भी भरत की भुजा ज्यो-की-त्यो स्थिर रही। अश मात्र भी इधर-उधर नहीं हुई। भरत ने झटका देकर ज्यो ही अपना हाथ सीने से लगाया, नीचे का घडा खिसक जाने से जैसे सारे ही घडे गिर पडते हैं, सभी सैनिक उस खड्डे मे गिर पडे। इस शक्ति-परीक्षण से सैनिको मे आनन्द की लहर दौड गई और सारी अयथार्थ आशकाए दूर हो गई।

द्वन्द्व युद्ध

भरत और बाहुबली द्वन्द्व युद्ध के लिए अखाडे मे उतर आये। दृष्टि-युद्ध, वाग्-युद्ध, बाहु-युद्ध, और दण्ड-युद्ध सुनिश्चित हुए। दृष्टि-युद्ध के लिए दोनो ही वीर अनिमिप होकर खडे हो गये और एक दूसरे को अपलक निहारने लगे। दिन के चतुर्थ प्रहर के आरम्भ तक दोनो उसी तरह निर्निमेप खडे रहे। सायं-काल सहसा भरत के मुँह पर सूरज आ गया और उसकी पलकें झँप गई। प्रथम द्वन्द्व युद्ध मे बाहुबली की विजय हुई और भरत के हाथ पराजय लगी। इसी प्रकार वाग्-युद्ध मे दोनो द्वारा वार-वार सिंहनाद किया गया। क्रमश. बाहुबली का स्वर उदात्त बनता रहा और भरत का स्वर क्षीण। बाहु-युद्ध के समय सरोप भरत ने बाहुबली के वक्ष -स्थल पर मुष्टि का प्रहार किया, तो एक क्षण के लिए वे बेहोश जैसे हो गये। बाहुबली दूसरे ही क्षण सावधान हो गये और उन्होने मौका पाकर भरत के पाँव पकड कर उन्हे आकाश मे उछाल दिया। गिरते हुए अपने भाई को देखकर उनके हृदय मे करुणा उमड आई। बच्चे जैसे गेंद को आकाश मे ही पकड लेते हैं, उसी तरह भरत को भूमि पर गिरने से उन्होने बचा लिया।

तीनों युद्धो मे हार जाने से भरत का रोपारुण होना सहज था। दण्ड-युद्ध के समय उन्होंने अपनी पूरी शक्ति को बटोर कर अनुज के सिर पर अचानक प्रहार किया, तो वे जानु तक धरती मे समा गये। बाहुबली अपने पराक्रम को [illegible] कुछ बाहर निकले और अवसर देख कर

अग्रज पर प्रहार किया, तो वे गले तक पृथ्वी मे धँस गये। चारो ही युद्धो मे वाहुबली का विजयी होना, भरत की आशाओ पर तुहिनपात था।

कुछ एक परम्पराओ मे भरत और वाहुवली के वीच दृष्टि-युद्ध, पहुंचा छुडवाना, भुजा नमाना, जल-उछालना तथा मुष्टि-प्रहार करना, ये पाच प्रकार के द्वन्द्व-युद्ध भी माने गये हैं।[1]

चक्र का प्रयोग

भरत को अपने चक्रवर्तित्व मे सन्देह होने लगा। उन्मन होकर वे भूमि कुरेद रहे थे कि सहसा उनके हाथ मे चक्र आ गया। सत्ता के मद और प्रतिशोध की भावना ने उन्हे लक्ष्य-च्युत कर दिया। चक्र घुमाया और वाहुवली के सिरच्छेद के लिए चला दिया। भरत का यह अन्तिम और अचूक अस्त्र था। उसे देखते ही सारे अवाक् रह गये। दर्शको को ऐसा प्रतीत हो रहा था कि इस वार वाहुवली नही वच सकेंगे। बाहुवली ने भी उसे अपनी ओर आते देखा। उनके मन मे रोप का उभरना सहज था, पर, वे शान्त ही वैठे रहे। चक्र ने आकर वाहुवली के सम्मुख तीन प्रदक्षिणा दी और वह पुन. भरत के पास लौट गया। चक्र अचूक होता है, पर, वह सगोत्री और चरम शरीरी व्यक्तियो पर आघात नही करता। वाहुवली दोनो ही थे। भरत इस अप्रत्याशित क्रम को देखकर सन्न रह गये। प्रतिशोध की भावना से वे उवल रहे थे, अत: कृत्याकृत्य मे चूक रहे थे। उन्होने दूसरी वार चक्र को और चलाया।

अनल-प्रयोग से जिस प्रकार शीतल जल उवल पडता है, उसी प्रकार भरत के अन्याय को देखकर वाहुवली खौलने लगे। उन्होंने अपनी मुट्ठी तानी और चक्र तथा अग्रज को प्रेत्यधाम पहुँचाने के लिए चल पडे। धरा थर्राने लगी। वाहुवली के सरोष नेत्रो को कोई देख नही सका। प्रलय पवन की तरह वे चले। सहसा देवो की दृष्टि उस ओर केन्द्रित हुई तथा

---

१. भिक्षुग्रन्थरत्नाकर, खण्ड २, रत्न १७, भरत चरित ढाल ११, गा० १ से १२

"तव उन्होंने भरत को सर्प का मस्तक खुजलाने के इस उपक्रम से क्यो नही रोका ?"

"उन्होंने उसे रोका तो नही, प्रत्युत प्रोत्साहित किया है।"

"होनहार ही ऐसी है।"

सुवेग दूत अतिशीघ्र अयोध्या पहुँचा और उसने वाहुवली के स्वाभिमान, नागरिको के विचार तथा युद्ध के लिए समुत्सुक राजा और सैनिकों की गतिविधियो से सम्राट् भरत को परिचित किया। वातो-ही-वातो में रण-भेरी वज उठी और अपार टिड्डी दल की तरह भरत की सेना ने वहली देश की सीमा पर पड़ाव डाल दिया। वाहुवली के खुंखार योद्धा भी अपने स्वामी के साथ रण-रेखा पर आकर डट गये। वारह वर्ष तक घमासान युद्ध हुआ और विजय किसी के हाथ भी नही लगी। हजारो योद्धा, सैकडो सेनापति तथा अनेक मुख्य-मुख्य राजा व राजकुमार मौत के घाट उतार दिये गये। रक्त-रजित भूमि वडा ही वीभत्स दृश्य उपस्थित कर रही थी।

सन्धि-प्रस्ताव

हिंसा की चरमता को देखकर देवताओं के आसन भी डोल उठे। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के पुत्र समष्टि के आरम्भ मे ही राज्य के लिए इस प्रकार खून की होली खेलेंगे, यह अनुमान नही लगाया जा सकता था। दोनो दलो मे समझौता करवाने के लिए देवो ने आकाशवाणी की और सन्धि-प्रस्ताव लेकर भरत और वाहुवली के पास गये। दोनो ही पक्षो ने हिंसा की वर्वरता को स्वीकार किया और अपनी विवशता व्यक्त की।

भरत ने कहा—मैं चक्रवर्ती हूँ। यदि ऐसा नही करता हूँ, तो चक्र आयुधशाला मे प्रविष्ट नही होता है। वाहुवली एक वार नतमस्तक होकर इस कार्य को कर दे। मुझे उसका राज्य नहीं चाहिए।

वाहुवली ने कहा—देवो ! इसमे मेरा क्या दोष है ? राज्य-लिप्सा के लिए तो मैं युद्ध कर नही रहा हूँ। मैं तो पिताजी के द्वारा प्रदत्त अपने राज्य की सुरक्षा कर रहा हूँ। आक्रान्ता को शिक्षा देना मेरा धर्म है। भरत जैसे आया है, यदि वैसे ही लौट जाये, तो मैं युद्ध नही करूँगा, यह विश्वास दे सकता हूँ।

दोनो ही पक्ष अपने-अपने आग्रह पर अटल थे, अत समझौता नही हो सका। हिंसा को रोकने के लिए देवो द्वारा एक दूसरा प्रस्ताव और रखा गया। उन्होने दोनो ही से कहा—हार और जीत का निर्णय तो दोनो के वीच होने का है; अत सैनिको को युद्ध मे क्यो होमा जा रहा है ? दोनो भाई परस्पर लड़ें और अपने पराक्रम से एक दूसरे को परास्त करें। दोनों ही पक्षो को यह प्रस्ताव मान्य हो गया।

भरत द्वारा शक्ति-परीक्षण

वाहुवली का शारीरिक वल अपरमित था। भरत चक्रवर्ती थे, पर, कोमल भी वहुत थे। अपनी दिग्विजय मे कभी उन्होने शस्त्र उठाकर युद्ध नहीं लडा था। भरत की विजय सुयोग्य सेनापति व वीर सैनिको के वल पर ही विशेषत: हुई थी। इस प्रस्ताव को स्वीकृत किये जाने से वहली के सैनिको मे जहा हर्ष था, वहा भरत के सैनिको मे नाना आशकाए भी उत्पन्न हो रही थी। स्थान-स्थान पर होने वाली फुस-फुस ने चक्रवर्ती का ध्यान उस ओर खीच लिया। अपने वल से अपने ही सैनिको को प्रभावित करने के लिए चक्रवर्ती ने एक विशेष प्रयत्न किया। अपने सैनिको को आदेश देकर उन्होने एक वहुत वडा खड्डा खुदवाया। स्वयं उसके किनारे पर जाकर वैठे। अपने वाये हाथ पर, वृक्ष की लटकती हुई लम्वी-लम्वी जटाओ की तरह, एक पर एक मजवूत एक हजार जजीरें वधवाई। एक हजार सैनिको को अपने पूरे वल और अपने-अपने वाहनो के साथ उन जजीरो को खींचने और स्वयं को खड्डे मे ढकेल देने का आदेश दिया। सैनिक एक वार कुछ सकुचाये, पर, भरत के वार-वार कहने पर वे ऐसा करने को उद्यत हो गये। एक

उन्होंने बाहुबली को उस कार्य से उपरत करते हुए प्रतिबोध दिया। समय की अणि चूकने से उनका रोष कुछ शान्त हुआ और वह क्रमशः निर्वेद मे परिणत हो गया। भाई को प्रेत्यधाम पहुँचाने वाले बाहुबली ने प्रतिबुद्ध होकर उसी मुष्टि से अपने सिर के केशो का लुंचन कर लिया। वीर रस का वैराग्य मे इस तरह का परिवर्तन एक महान् आश्चर्यकारी था। दर्शको को अपने नेत्रो पर विश्वास नही हो रहा था। उन्हे वह एक स्वप्न जैसा प्रतीत हो रहा था।

विजिगिषु सम्राट् भरत की इस घटना ने आँखें खोल दी। हिंसा प्रतिहिंसा को जागृत करती है, प्रतिशोध वैमनस्य का उद्भावक होता है, तो निर्वेद शान्त रस का जनक होता है। बाहुबली ने 'जे कम्मे सूरा ते धम्मे सूरा' उक्ति को चरितार्थ किया, तो भरत का दिल पसीजा, अपने द्वारा विहित कार्यों के प्रति ग्लानि हुई और वे बिना किसी शर्त के बाहुबली के चरणो में झुक गये। जो बटोरना चाहता है, वह कोरा रहता है और जो उत्सर्ग करता है, श्रेय उसके पीछे दौड़ता है। बाहुबली जब तक अपने राज्य के संरक्षण मे प्रवृत्त रहे, भरत भाई नही, शत्रु प्रतीत होते रहे थे और जब वे निस्संग होकर राज्य से उपरत हो गये, तो भरत स्वत. ही उनके सम्मुख झुक गये और अपने सारे राज्य को उनके चरणों मे न्यौछावर करने को प्रस्तुत हो गये। किन्तु, राज्य की सुनहरी चमक बाहुबली को कैसे लुभा सकती थी ? भरत ने ज्येष्ठ बन्धु के नाते शतशः आग्रह किया, पर, अनुराग विराग को दबाने मे सक्षम नही हुआ।

बाहुबली द्वारा प्रव्रज्या-ग्रहण

बाहुबली ने मुकुट उतारा, राजकीय परिधान छोडा और तपस्वी साधक की मन्थर गति से चल पडे। मन मे विचार आया, भगवान् ऋषभदेव के चरणो मे पहुँचना चाहिए; किन्तु, दूसरे ही क्षण उन्हे याद आया— वहाँ तो मेरे पूर्व दीक्षित अट्ठानवे छोटे भाई हैं। यदि वहाँ जाऊँगा, तो मुझे उन्हे नमस्कार करना होगा। यह सिर बडे भाई भरत के समक्ष भी यदि नहीं झुका, तो छोटे भाइयो के आगे कैसे झुकेगा ? साधना आत्म-

सापेक्ष होती है। तपश्चरण मे दूसरा व्यक्ति तो केवल निमित्त होता है और उसकी सबको आवश्यकता भी नही होती। यदि परावलम्बन को छोडकर स्वावलम्बन के आधार पर निर्जन कानन मे एकाकी ध्यानस्थ रहूँ, तो भी मैं अपने लक्ष्य तक सहजता से पहुँच जाऊँगा। इसी भावना से प्रेरित होकर बीहड जगलो की ओर चल दिए। एकान्त स्थान देख कर कायोत्सर्ग मे लीन हो गये। ग्रीष्म, वर्षा व शीत ऋतुएँ क्रमश आईं और चली गईं। वन्य-जन्तुओ ने उन्हे नाना प्रकार से त्रास दिया, पक्षियो और चींटियो ने भी उन्हें क्लान्त करने का प्रयत्न किया, पर, वे व्युत्सृष्ट-काय होकर अपने एकाग्र चिन्तन मे अटल रहे। वे किसी भी तरह से विचलित नही हुए। एक वर्ष का पूरा समय बीत चुका।

ब्राह्मी-सुन्दरी का आह्वान

भगवान् ऋषभदेव ने एक दिन ब्राह्मी और सुन्दरी के समक्ष बाहुबली की उत्कट तपस्या का ल्लेख करते हुए कहा—बाहुबली अपने बहुत सारे कर्मों को खपाकर शुक्ल पक्ष की चतुर्दशी की तरह निर्मल बन रहा है। किन्तु, पर्दे के पीछे रहे हुए पदार्थ जैसे दिखाई नही देते हैं; अभिमान के कारण उसे भी उसी तरह केवल ज्ञान प्राप्त नही हो रहा है। तुम दोनो उसके पास जाओ। तुम्हारे कथन से प्रेरित होकर वह अभिमान छोड़ देगा और अनुत्तर केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त करेगा।

ब्राह्मी और सुन्दरी दोनो साध्वियाँ भगवान् के द्वारा प्रेरित होकर उस भयानक जंगल मे गईं। बहुत कुछ छान-बीन के अनन्तर उन्होंने ध्यानस्थ मुनि बाहुबली को पहचाना। तीन प्रदक्षिणा देकर नमस्कार किया तथा संगीत के स्वर मे बोलीं: "अब तो बन्धव! करिवर से उतरो।" बारह महीने से चलने वाला एकाग्र चिन्तन बहिनो के शब्दो से सहसा टूटा। वे शब्द उनके हृदय को बीध गये तथा सोचने लगे. "मेरी बहिनें इस घोर कानन मे क्यो आईं? वे साध्वियाँ हैं और यथातथ्यभाषिणी हैं। मुझे सब प्रकार के सावद्य योगो का प्रत्याख्यान किये एक वर्ष की अवधि समाप्त हो रही है। भूमि पर खडा कायोत्सर्ग कर रहा हूँ। गज की असवारी मैंने

कौनसी कर रखी है ? इसी चिन्तन ने उनके भावी चिन्तन का द्वार खोल दिया। बाहुबली के ऊर्ध्वमुखी चिन्तन ने करवट ली और वे वास्तविकता तक पहुँच गये। रत्नाधिक साधुओं को छोटा मानकर भगवान् ऋषभदेव के समवसरण मे न जाना, इससे बढकर दूसरा हाथी कौन होगा ? उसी समय पूर्व दीक्षित साधुओं को नमस्कार करने के निमित्त उन्होंने चरण बढाये, मोहनीय कर्म का अंश—अभिमान समाप्त हुआ और वे सर्वज्ञ तथा सर्वदर्शी बने।

भरत द्वारा साम्राज्य का संचालन

भरत अपनी सेना के साथ अयोध्या लौट आये। चक्र स्वत ही आयुधशाला मे प्रविष्ट हो गया। विजयोल्लास की अपूर्णता नही रही। शासन-व्यवस्था को सुचारु रूप से सचालित करने के लिए अपने अधिशास्ता मण्डल को आमन्त्रित किया। नया विधान बनाया, परम्पराएँ स्थापित की तथा नाना दण्ड-व्यवस्थाओं का प्रवर्तन भी किया। राजनीति के अग के रूप मे चले आ रहे साम, दान, दण्ड और भेद को और व्यवस्थित किया। मृत्यु-दण्ड की परम्परा भी आरम्भ की। चवदह रत्न[1] व नौ निधियो[2] को यथास्थान स्थापित किया गया। अठारह श्रेणियो[3] को विधिवत् व्यवस्थित किया गया। बत्तीस हजार मण्डलपति अनुचारी राजाओ को अपने अपने प्रदेश का प्रमुख घोषित कर व्यवस्था-सचालन का भार उन्हें सौंपा गया। ऐश्वर्य और विलास के प्रचुर साधन सबके लिए उपलब्ध किए गये।

श्रावकों का सम्मान

एक बार भगवान् ऋषभदेव ग्रामो और शहरो मे विहरण करते हुए अष्टापद (कैलाश) पर्वत पर पधारे। सम्राट् भरत को जब यह ज्ञात हुआ,

---

१. देखें, परिशिष्ट संख्या—१

२ देखें, परिशिष्ट संख्या—१

३. देखें, परिशिष्ट संख्या—१

तो अपने परिकर के साथ वे भी प्रभु के दर्शनार्थ आये । प्रवचन सुना । अपने छोटे भाइयो के भी वहाँ दर्शन किये । उन्हे देखते ही वाल्य जीवन, राज्य-अधिग्रहण व उनके अकल्पित ही दीक्षा-ग्रहण आदि की प्राचीन घटनाएँ एक-एक कर भरत के मानस पर उभर आई । पश्चात्ताप के साथ उष्ण नि श्वास निकलने लगे । अपने द्वारा विहित कार्यों के प्रति घृणा व्यक्त करते हुए वे सोचने लगे—मैं अनल की तरह अतृप्त मानस हूँ । मैंने अपने ही छोटे वन्धुओ के राज्य हडप लिए । क्या मैं यह राज्य और ऐश्वर्य किसी दूसरे को दे दूँ ? नही, यह उचित नही होगा । एक मास की तपस्या के अनन्तर घोर तपस्वी जैसे आहार-ग्रहण करते है, वैसे ही यदि मैं उन्हे भोग्य सम्पत्ति व राज्य के लिए निमन्त्रित करू, तो क्या वे मेरे पुण्य मे उसे ग्रहण करेंगे ?

भरत ने प्रभु से अपना आशय निवेदित किया, तो उन्होंने कहा—हे सरलाशय सम्राट् ! तेरे वन्धु महाव्रती है । वे वमन किये हुए अन्न की तरह भोगो को स्वीकार नही करेंगे ।

निराश होकर भरत ने अपने मन मे फिर सोचा—यद्यपि मेरे ये विरक्त वन्धु भोगो की ओर तो उन्मुख नही होंगे, पर, प्राण-धारण के लिए आहार-ग्रहण तो करेंगे ही । उन्होंने आहार पानी के पाचसौ वडे-वडे शकट भराकर मगवा लिये और अपने सभी वन्धुओं से उसे ग्रहण करने का अनुरोध किया । आधाकर्म दूषित होने से प्रभु ने उस आहार का भी निषेध कर दिया । भरत ने अपने लिए निष्पन्न भोजन के लिए निवेदन किया, तो उसे राजपिण्ड वतला कर प्रभु ने निषेध कर दिया । भरत अत्यन्त निराश हुए । निर्ग्रन्थ वन्धुओ ने उस भोजन को ग्रहण नही किया और वापिस ले जाना भरत नही चाहते थे । असमजस मे तैरते-डूवते वे कभी भगवान् ऋषभदेव की ओर देख रहे थे तथा कभी समागत इन्द्र की ओर । भगवान् तो इस विषय मे मौन थे । इन्द्र ने भरत के मनोगत विचारो को भापते हुए कहा—आप इस भोजन को विशिष्ट गुण-सम्पन्न पुरुषो को दे दें । भरत को इच्छित मार्ग मिल गया । उन्होंने उस

भोजन को निरपेक्ष (विरक्त) श्रावको मे मुक्त हस्त से वितरित कर दिया। उस दिन से श्रावको का सम्मान भी प्रारम्भ हुआ।

इन्द्र-महोत्सव का आरम्भ

भरत ने साश्चर्य इन्द्र से जिज्ञासा की—क्या आप स्वर्ग मे इसी रूप मे रहते हैं ?

इन्द्र ने मुस्कराते हुए उत्तर दिया—राजन् ! हमारा स्वर्गीय रूप ऐसा नही होता। वहाँ के रूप को मनुष्य अपने नेत्रो से देख भी नहीं सकते।

भरत ने नम्रता के साथ कहा—आपके उस स्वरूप को देखने के लिए मैं उत्कण्ठित तो हूँ।

इन्द्र ने कहा—राजन् ! तुम श्लाघ्यपुरुष हो। तुम्हारी प्रार्थना व्यर्थ नही होनी चाहिए, अत' मैं तुम्हें अपना एक अग अवश्य दिखाऊंगा।

इन्द्र ने उचित अलकारो से सुशोभित होकर एक अनामिका अगुलि दिखाई और तत्क्षण अपने स्वर्ग में चला गया। भरत उसे देखकर अत्यन्त आश्चर्यान्वित हुए। अगुलि की उस सुन्दरता के सामने भरत का सारा वैभव फीका था। भगवान् को नमस्कार कर भरत अयोध्या लौट आये और रात को इन्द्र की उस अगुलि की स्थापना कर अष्टाह्निक महोत्सव किया। उस समय से इन्द्र महोत्सव की परम्परा चली, जो नाना रूपो मे परिवर्तित होती हुई युग-युगो तक चलती रही।

वेदों का निर्माण

सम्राट् भरत ने प्रमुख श्रावको को एक बार आमन्त्रित कर आदेश दिया, "आप लोग प्रतिदिन राज-प्रासाद मे ही भोजन करें। कृषि, वाणिज्य आदि आजीविका के साधन छोड दें। स्वाध्याय मे निरन्तर लीन रह कर अपूर्व ज्ञान ग्रहण मे तत्पर रहें। भोजन करने के अनन्तर प्रतिदिन मेरे पास आयें और इस वाक्य का उच्चारण करें।

जितो भवान् वर्धते भीतस्तस्मान् मा हन मा हन

आप हारे हुए हैं। भय बढता है, अतः अपने आत्म-गुणों को आप न मारें :

श्रावक चक्रवर्ती का उक्त आदेश शिरोधार्य कर प्रतिदिन उसे उसी तरह क्रियान्वित करने लगे। भोजन के अनन्तर विश्राम के समय उच्च स्वर से सहस्वाध्याय की तरह वे प्रतिदिन उपरोक्त पाठ का उच्चारण करते। राज्य-व्यवस्था मे आकण्ठमग्न चक्रवर्ती का चिन्तन उन वाक्यो को सुनते ही अन्तर्मुख हो जाता। वे सोचते—मैं किसके द्वारा जीता गया हूँ? मेरे लिए किसका भय बढ़ रहा है? हाँ, समझ मे आया, मैं कषायो के द्वारा जीता गया हूँ और उनके कारण ही मेरे लिए भय बढता जा रहा है। ये विवेकी पुरुष मुझे सचेष्ट करते हैं कि मैं आत्म-हनन न करूँ। फिर भी मैं प्रमादी हूँ, विषय-लोलुप हूँ और धर्म क प्रति उदासीन हूँ।

आचार्य श्री भिक्षु ने भरत चरित[1] मे भरत द्वारा अपने प्रवुद्ध होने के एक अन्य उपक्रम का भी उल्लेख किया है। उन्होने प्रचलित जनश्रुति के आधार पर चक्रवर्ती भरत की विरक्त भावना का निरूपण करते हुए लिखा है—भरत ने अपने प्रमुख आवास-स्थान पर एक घड़ियाल बन्धाया। प्रति घंटे वह बजाया जाता था। उससे भरत के मन मे सहज ही ये विचार उभर आते कि मेरा एक घण्टे का जीवन अल्प हो गया, अतः मुझे राज्य-भार से मुक्त होकर अनगार धर्म की ओर बढना चाहिए। किन्तु, इस प्रकार घड़ियाल को आवाज सुनते हुए व उक्त प्रकार से चिन्तन करते हुए लम्बा समय बीत गया और वह विशेष उपक्रम भी सहज हो गया। क्रमश उस ध्वनि-श्रवण से किसी विशेष भावना की जागृति भी अवरुद्ध हो गई। चक्रवर्ती भरत ने अपने विचारो में निस्संग भावना का बल भरने के लिए एक विशेष प्रयत्न और किया। जब वे राज्य-सिंहासन पर आरूढ़ होते, तो विशेष नियुक्त व्यक्ति उच्च स्वर से उद्घोषणा करते

१. भिक्षुग्रन्थरत्नाकर, खण्ड २, रत्न १७, भरत चरित, ढाल ६३

'चेत चेत हो चेत भरत राजान'। इससे भरत की अनासक्त भावना को उत्तेजन मिलता।

भरत के इस प्रकार नैरन्तरिक ऊर्ध्वमुखी चिन्तन ने क्रमश उन्हे अनासक्ति की ओर प्रेरित कर दिया। साम्राज्य-सम्बन्धी कार्यों से निवृत्त होकर वे तत्त्व-चिन्तन व धर्म-कार्यों मे विशेषत. भाग लेने लगे। उस समय श्रावको के स्वाध्याय के लिए चक्रवर्ती ने अर्हन्तो की स्तुति, मुनि तथा श्रावको की समाचारी से पवित्र चार[1] वेद बनाये। कुछ विद्वानो का मत[2] है कि उनके नाम—१. ससार दर्शन वेद, २ सस्थान परामर्शन वेद, ३. तत्त्व बोध वेद और ४ विद्या प्रबोध वेद थे। 'ये वेद नवे तीर्थंकर सुविधिनाथ के समय तक चलते रहे। नवें और दशवें तीर्थंकर भ० शीतलनाथ का मध्यवर्ती समय काफी लम्बा था, अतः उस समय जैन साधुओ का विच्छेद हो गया। साधुओ के अभाव मे ब्राह्मण वर्ग पूजा जाने लगा और उस वर्ग ने अपनी लोकप्रियता बढाने के निमित्त व समाज मे अगुआ का पद पाने के लिए निवृत्ति धर्म को गौण कर प्रवृत्ति धर्म की ओर विशेष कदम बढाने आरम्भ कर दिये। अनगार धर्म का विरोध वहीं से आरम्भ हुआ और सुलस तथा याज्ञवल्क ऋषि के द्वारा उस समय अन्य वेदो की रचना की गई।[3] कुछ विद्वानो का ऐसा मत है कि उन मौलिक वेदो के मन्त्र कर्णाटक मे जैन ब्राह्मणो को अब तक भी याद हैं।

वेद जैन सस्कृति मे मान्य रहे हैं, इसका प्रमाण आचाराग सूत्र से भी मिलता है। वहाँ स्थान-स्थान पर व्यवहृत होनेवाला

---

१ अर्हत्स्तुति मुनि श्राद्ध समाचारी पवित्रितान्।
आर्यान् वेदान् व्यधाच्चक्री, तेषा स्वाध्यायहेतवे॥
—त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १ सर्ग ६ श्लोक २४७

२. पार्श्वनाथ परम्परा का इतिहास

३ त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र, पर्व १ सर्ग ६ श्लोक २५६

'वेदवी'[1] शब्द प्रत्येक अनुसंघाता को इस तथ्य की ओर आकर्षित कर ही लेता है कि जैन सस्कृति मे यदि वेदो का कोई स्थान नही होता या वेद दूसरी सस्कृति के ही होते, तो वहा यह शब्द-प्रयोग बहुलता से नही होता।

वेदो की परम्परा जैन और वैदिक दोनो ही धर्मों मे रही और उनके निर्माण, सरक्षण व लोप की विविध घटनाएँ भी प्रचलित हैं। वेदो का लोप जैन परम्परा भी मानती है और वैदिक परम्परा भी। पर, अन्तर यह है कि जैन परम्परा के अनुसार उन वेदो का उद्धार नही हो सका, जब कि वैदिक परम्परा के अनुसार ब्रह्मा के निकट से मधु और कैटभ दैत्यो द्वारा वेदो का अपहरण हो चुकने पर भगवान् हयग्रीवावतार ने रसातल से पुनः लाकर ब्रह्मा को दे दिये थे। महाभारत[2] मे बताया गया है "भगवान् ब्रह्मा ने सहस्रदल कमल पर विराजमान होकर जब इधर-उधर दृष्टि दौडाई तो उन्हे जल के अतिरिक्त कुछ भी दृष्टिगोचर नही हुआ। सत्व गुण मे स्थित होकर वे सृष्टि-रचना मे प्रवृत्त हुए। जिस भास्वर कमल पर बैठे थे, उस पर भगवान् नारायण की प्रेरणा से रजोगुण और तमोगुण की प्रतीक जल की दो बूँदें पहले से ही अवस्थित थी। ब्रह्मा के दृष्टिपात से एक बूँद तमोमय मधु नामक दैत्य के आकार मे परिणित हो गई। उस दैत्य का रंग मधु के समान था और उसकी कान्ति बडी सुन्दर थी। जल की दूसरी बूँद जो कुछ कडी थी, नारायण की आज्ञा से रजोगुण से उत्पन्न कैटभ नामक दैत्य के रूप मे प्रकट हो गई।

तमोगुण और रजोगुण से युक्त मधु और कैटभ, दोनो श्रेष्ठ दैत्य बडे बलवान् थे। वे अपने हाथो मे गदा लिए कमल नाल का अनुसरण करते हुए आगे बढे। उन दोनो ने ही कमल पुष्प के आसन पर बैठकर सृष्टि-

---

१. क—एव से अप्पमाएण विवेग कीट्टति वेदवी।

—आचाराग सूत्र, श्रुत० १ अ० ५ उ० ४

ख—एत्थ विरमेज्ज वेदवी—आचाराग सूत्र, श्रु० १ अ० ५ उ० ६

२ अध्याय ३४७ श्लोक २२ से ७२ के आधार पर

रचना मे प्रवृत्त अमित तेजस्वी ब्रह्मा को देखा एव उनके पास ही मनोहर रूप धारण किये हुए चारो वेदो को देखा। क्षण मात्र मे ही ब्रह्मा के देखते-देखते विशालकाय श्रेष्ठ दानवों ने वेदों का अपहरण कर लिया तथा वे दोनो उत्तर-पूर्ववर्ती महासागर मे घुस गये और शीघ्र ही रसातल मे जा पहुँचे।

वेदो के अपहृत हो जाने पर ब्रह्मा बडे खिन्न हुए। उन पर मोह छा गया। वेदो से रिक्त होकर मन-ही-मन वे परमात्मा से कहने लगे: "वेद ही मेरे उत्तम नेत्र हैं। वेद ही मेरे परम बल हैं। वेद ही मेरा परम आश्रय तथा वेद ही मेरे सर्वोत्तम उपास्य हैं। मेरे वे सभी वेद आज दो दानवो ने बलपूर्वक यहाँ से छीन लिए हैं। दोनो के बिना अब मेरे लिए सारा लोक अन्धकार मय हो गया है। वेदो के बिना मैं संसार की उत्तम सृष्टि कैसे कर सकता हूँ? वेदो के नष्ट हो जाने से मेरे पर बहुत बडा दु ख आ पडा, जो मेरे शोक-मग्न हृदय को दु सह पीडा दे रहा है। शोक समुद्र मे डूबते हुए मुझ असहाय का उद्धार कौन करेगा? अपहृत वेदो को अब कौन लायेगा? मैं किसको इतना प्रिय हूँ, जो मेरी ऐसी सहायता करेगा?"

ब्रह्मा ने इस प्रकार अनुतप्त होते हुए श्रीहरि की तन्मयता से स्तुति करते हुए कहा—स्वयम्भो! मैं आपकी कृपा से समय-समय पर उत्पन्न होता रहता हूँ। मन, नेत्र, वचन, कर्ण, नासिका, ब्रह्माण्ड और कमल से क्रमश मेरे सात जन्म हुए हैं और मैं प्रत्येक कल्प मे आपका पुत्र होकर प्रकट हुआ हूँ। आपने मुझे वेद रूपी नेत्रो से युक्त बनाया था। किन्तु, मेरे वे नेत्र रूपी वेद दानवो द्वारा हर लिए गये हैं, अत. मैं अन्धा-सा हो गया हूँ। प्रभो! निद्रा-त्याग करें और वे नेत्र पुनः प्रदान करे। मैं आपका प्रिय भक्त हूँ और आप मेरे प्रियतम स्वामी हैं।

ब्रह्मा की स्तुति से भगवान् प्रसन्न हुए और अपनी निद्रा-त्याग कर वेदो की रक्षा मे उद्यत हो गये। उन्होंने अपने ऐश्वर्य के योग से दूसरा शरीर धारण किया, जो चन्द्रमा के समान कान्तिमान् था। सुन्दर नासिका वाले शरीर से युक्त हो वे घोडे के समान गर्दन और मुख धारण कर प्रकट

हुए। उनका वह शुद्ध मुख सम्पूर्ण वेदो का आलय था। हयग्रीव का रूप धारण कर वे श्रीहरि वहाँ से अन्तर्धान हो गये और रसातल मे जा पहुँचे। परम योग का आश्रय लेकर शिक्षा के नियमानुसार उदात्त आदि स्वरो से युक्त उच्च स्वर से सामवेद का गान करने लगे। नाद और स्वर विशिष्ट सामगान की वह सर्वथा स्निग्ध एव मधुर ध्वनि रसातल मे सब ओर फैल गई, जो समस्त प्राणियो के लिए गुणकारक थी। दोनो ही असुरो ने उस ध्वनि को सुना। वेदो को कालपाश से आवद्ध कर रसातल मे फेंक दिया और स्वयं उस ओर ही दौड पडे। हयग्रीव रूप धारक भगवान् श्रीहरि ने इसी बीच मौका पाकर रसातल मे पडे उन सम्पूर्ण वेदो को वहा से उठाया तथा पुनः ब्रह्मा को लाकर सौंप दिया। भगवान् ने महासागर के पूर्वोत्तर भाग मे वेदो के आश्रय भूत अपने हयग्रीव रूप की स्थापना कर पुन. पूर्व रूप धारण कर लिया और तब से वे वही रहने लगे।

वेद-ध्वनि के स्थान पर आकर मधु और कैटभ, दोनो दानवो ने जब वहाँ पर कुछ भी नही पाया, तो वडे वेग से फिर वही लौट आये, जहाँ उन वेदो को डाला गया था। पर, वहाँ तो खाली जगह पडी थी। दोनो वलवान् दानव पुन उत्तम वेग का आश्रय ले रसातल से ऊँचे उठे। ऊपर आकर उन्होने आदिकर्ता भगवान् पुरुषोत्तम को देखा, जो चन्द्र के समान विशुद्ध उज्ज्वल प्रभा से विभूषित गौर वर्ण के थे। वे उस समय अनिरुद्ध विग्रह मे स्थित थे और योग निद्रा का आश्रय लेकर सो रहे थे। उन्हे लेटे देखकर दोनो दानवराज ठहाका मार कर जोर-जोर से हँसने लगे।

भगवान् की निद्रा भग नही हुई, तो रजोगुण व तमोगुण से आविष्ट वे दोनो असुर परस्पर कहने लगे—"यह जो गौर वर्ण पुरुष निद्रा मे निमग्न लेट रहा है, निश्चय ही इसी ने रसातल से वेदो का अपहरण किया है। यह किसका पुत्र है ? कौन है और यहा सर्प के शरीर की शय्या पर क्यो सो रहा है ?"

युयुत्सु असुरो की भावना जान कर भगवान् जाग उठे और मन-नमही- युद्ध करने का निश्चय कर वे उन दोनो के साथ डट गये।

भगवान् ने ब्रह्मा का मान रखने के लिए रजोगुण व तमोगुण से आविष्ट उन दोनो दैत्यो को मार डाला। इस प्रकार वेदो को पुन लाकर और मधु-कैटभ का वध कर भगवान् ने ब्रह्मा को शोक-मुक्त किया। वेदो से सम्मानित और भगवान् से सुरक्षित होकर ब्रह्मा ने समस्त चराचर जगत् की सृष्टि की।"

ब्राह्मणो की उत्पत्ति और उनके पतन का कारण

'मा हन' शब्द के प्रतिदिन उच्चारण से 'माहन' शब्द बना और कुछ वर्षों मे ही वह उच्चारण 'ब्राह्मण' शब्द के रूप मे बदल गया। इस प्रकार वेदो का अध्ययन कर चक्रवर्ती को प्रतिदिन सचेष्ट करने वाले 'ब्राह्मण' कहलाये।

दिगम्बर परम्परा में ब्राह्मण वर्ग के बारे मे ऐसा उल्लेख मिलता है कि भगवान् ऋषभदेव के समय इस वर्ग की आवश्यकता ही नही थी, क्योंकि जनता प्रकृत्या भद्र, शान्त व सरल थी। ज्यो-ज्यो वह सात्विक वृत्ति बदलती गई, विग्रह आदि बढने लगे, तब जन-भावना को अभद्रता से रोकने के लिए व व्रतादि मे सुस्थिर रहने की प्रेरणा देने के लिए चक्रवर्ती भरत ने ब्राह्मण वर्ग की स्थापना की। एक बार चक्रवर्ती भरत ने भगवान् ऋषभदेव से उक्त वर्ग के लाभालाभ के बारे मे पूछा, तो भगवान् ने कहा—यद्यपि तू ने यह व्यवस्था सदभिप्राय से की है, किन्तु, समय अपना प्रभाव दिखाये विना नही रहेगा। आगे चलकर यही वर्ग अहकार से उन्मत्त होकर गुणो से भ्रष्ट हो जायेगा और प्रजा के लिए हितकर नही होगा।

समय और परिस्थितियो के थपेडे ऐसे होते है कि जिनके आघात से किसी भी वर्ग, परिवार या व्यक्ति का बच पाना कठिन हो जाता है। इनकी अनुकूलता उत्कर्ष की जनयित्री होती है, तो प्रतिकूलता अपकर्ष की। सदाशय से आरम्भ की गई प्रवृत्ति भी सुदूर भविष्य के आचल मे सिमटकर निन्द्य भी हो जाया करती है। ब्राह्मण वर्ग की पूजनीयता

में भी यही हुआ हो तो कोई आश्चर्य नही है। जैन-आगम और वैदिक शास्त्रो मे उत्तम ब्राह्मणो के लक्षण[1] एक हैं और उनसे युक्त उनकी पूजीयता भी समान है। दोनो ही धारायें उनके उत्थान और पतन के कारण स्वीकार करती हैं। पूर्व समय से ऐसा भी ज्ञात होता है कि क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जैसे किसी एक ही परम्परा विशेष के वाहक नही रहे, वैसे ब्राह्मण भी एक ही परम्परा के अधीन नही रहे हो। हर धर्म के उन्नत वर्ग को ब्राह्मण की सज्ञा दी गई हो। दिगम्बर परम्परा मे ब्राह्मण वर्ग के पतन का केवल सकेत मिलता है, किन्तु, वैदिक परम्परा मे इसकी सुविस्तृत घटना भी मिलती है, जो चिन्तन के लिए वहुत कुछ नये तथ्य प्रस्तुत कर देती है। देवी भागवत[2] मे कहा गया है "एक बार इन्द्र ने पन्द्रह वर्षो तक वर्षा को रोक दिया। उस अनावृष्टि के कारण घोर दुर्भिक्ष पडा। घर-घर मे इतनी लाशें एकत्र हो गईं कि उनकी अन्त्येष्टि करने वाले नही रहे। सभी मानव क्षुधा से पीडित होकर एक-दूसरे को खाने के लिए दौडते थे। ऐसी दारुण स्थिति मे वहुत सारे ब्राह्मणो ने एकत्रित होकर चिन्तन किया कि गौतम ऋषि तपस्या के वडे धनी हैं। इस अवसर पर वे ही हमारे दु ख-मोचक हो सकते हैं, अत हम सवको मिलकर उनके आश्रम चलना चाहिए। सुना है, इस समय भी उनके यहां सुभिक्ष ही है। वहुत से प्राणी वहा पहुँच भी चुके हैं।

सर्वसम्मति से सभी ब्राह्मण अपने अग्निहोत्र के सामान, कौटुम्बिक, गोधन तथा दास-दासियो को साथ लेकर गौतम ऋषि के आश्रम पहुँच गये। कुछ व्यक्ति पूर्व दिशा के द्वार से, कुछ दक्षिण दिशा के द्वार से, कुछ पश्चिम दिशा के द्वार से तथा कुछ उत्तर दिशा के द्वार से

---

१ देखें, उत्तराध्ययन सूत्र, अ० २५ तथा महाभारत, शान्ति पर्व, अ० १८९

२ स्कन्ध १२ अ० ९, कल्याण, देवी भागवत अक, पृ० ६५८ से ६६२ के आधार से

आश्रम मे प्रविष्ट हुए। ब्राह्मणो के इतने बड़े समाज को अपने यहा उपस्थित देखकर ऋषिवर ने उन्हें नमस्कार किया। आसन आदि उपचारों से उनकी पूजा की। कुशल-प्रश्न के अनन्तर उनके आगमन का कारण पूछा, तो सभी ब्राह्मणो ने अपना-अपना दु.ख उनसे निवेदित किया।

वस्तुतः ही ब्राह्मण समाज बहुत दु.खित था। मुनि ने उन सब को अभय प्रदान किया तथा उन्हे आश्वस्त करते हुए कहा—विप्रो! यह आश्रम आपका ही है। मैं भी आपका ही दास हूँ। मेरे रहते हुए आप तनिक भी चिन्तित न हो। इस समय आपके शुभागमन से मैं कृतकृत्य हो गया हूँ। जिनके दर्शन-मात्र से दुष्कृत सुकृत मे परिणत हो जाते हैं, वे सभी ब्राह्मण अपनी चरण-रज से मेरे इस घर को पवित्र कर रहे हैं। आपके अनुग्रह से मैं धन्य हो गया हूँ। मेरे अतिरिक्त अन्य किसको यह सौभाग्य प्राप्त हो सकता है। सन्ध्या और जप मे परायण रहने वाले आप सभी द्विजगण सुखपूर्वक मेरे यहां रहने की कृपा करें।

महर्षि गौतम ने सभी ब्राह्मणों को आश्रय देकर भक्ति-विनत हो तन्मयता से भगवती गायत्री की प्रार्थना की। गायत्री प्रसन्न होकर प्रगट हुई और उन्होंने ऋषि को एक ऐसा पूर्ण पात्र दिया, जिससे सबके भरण-पोषण की व्यवस्था हो सकती थी। साथ ही गायत्री ने यह भी कहा कि तुम्हे जिस किसी वस्तु की इच्छा होगी, यह पात्र उसे पूर्ण कर देगा।

पूर्ण पात्र पाकर गौतम मुनि ने सभी प्रकार के अन्न के इतने ऊँचे ढेर लगा दिये, मानो पर्वत ही हों। छ: प्रकार के विविध रस, भाँति-भाँति के तृण, दिव्य भूषण, रेशमी वस्त्र, यज्ञों की सामग्रियाँ तथा अनेक प्रकार के पात्र भी सुलभ हो गये। मुनि ने ब्राह्मणों को आमन्त्रित कर उन्हें प्रसन्नतापूर्वक धन-धान्य, वस्त्र-भूषण, गाय, भैंस आदि पशु समर्पित किए। स्वर्ग की समानता रखने वाला वह आश्रम उस समय एक महान् आश्चर्य-स्थल हो गया था। नित्य उत्सव मनाये जाते थे। न किसी को रोग का

भय था और न किसी को दैत्य आदि का भय। उस समय वह आश्रम चारो ओर से सौ-सौ योजन के विस्तार मे था। अन्य भी बहुत सारे प्राणी वहाँ आये और आत्म-ज्ञानी मुनि ने उन सबको अभय प्रदान कर उनके भरण-पोषण की व्यवस्था को। इस प्रकार बारह वर्षों तक गौतम ऋषि श्रेष्ठ ब्राह्मणो व अन्य व्यक्तियो की व्यवस्था मे सलग्न रहे।

एक बार घूमते-फिरते नारद ऋषि उस आश्रम मे पहुँच गये। गौतम ऋषि आदि ने उनका विधिवत् स्वागत किया। गौतम मुनि का यशोगान करते हुए नारदजी ने कहा–मैं देव-सभा मे गया था। वहाँ इन्द्र ने कहा–सबका भरण-पोषण कर गौतम ऋषि ने विशाल निर्मल यश अर्जित किया है। इन्द्र की यह बात सुनकर ऋषिवर! मैं आपका आश्रम देखने के लिए यहाँ चला आया।

उपस्थित कुछ एक कृतघ्न ब्राह्मण ऋषि के उस उत्कर्ष से ईर्ष्या करने लगे। द्वेषवश यह निश्चय किया कि हमे ऐसा प्रयत्न भी करना चाहिए, जिससे इनकी ख्याति बढ न सके।

धीरे-धीरे पन्द्रह वर्षों का वह समय व्यतीत हुआ। धरातल पर वृष्टि भी होने लगी। सारे देश मे सुभिक्ष की बातें सुनाई पडने लगी। कृतघ्न ब्राह्मणो ने मुनि को शाप देने की बुद्धि से माया की एक गौ बनाई। उसका शरीर पूर्णत जीर्ण-शीर्ण था। ऐसा लगता था कि किसी भी समय इसका प्राणान्त हो जाये। गौतम मुनि यज्ञशाला मे हवन कर रहे थे। वह गौ भी वहाँ पहुँच गई। ऋषिवर ने 'हुँ हुँ' शब्द से वारण किया और उसी समय गौ ने प्राण-त्याग कर दिया। उन ब्राह्मणो ने यह हल्ला मचा दिया कि दुष्ट गौतम ने इस गौ की हत्या की है। हवन-समाप्ति के बाद जब ऋषि ने यह सब कुछ सुना, तो अत्यन्त आश्चर्यान्वित हुए। वे आँखें मूँद कर समाधि मे स्थित हुए तो उन्हे यह जानने मे समय नही लगा कि यह काली करतूत किनकी है। वे इतने गुस्से मे भर आये जैसे कि प्रलय-कालीन रुद्र ही हो। आंखें लाल हो गईं और अपने से द्वेष रखने वाले

उन सभी ब्राह्मणो को वार-वार दुहराकर यह शाप दिया : "अरे अधम ब्राह्मणो ! आज से तुम वेद माता गायत्री के ध्यान और उसके मन्त्र-जप के सर्वथा अनधिकारी हो जाओ। वेद, वेदोक्त यज्ञ तथा वेद की वार्ताओ में, शिव की उपासना, शिव-मन्त्र का जप तथा शिव-सम्बन्धी शास्त्राध्ययन मे भी अनधिकारी हो जाओ। देवी के मन्त्र, देवी के स्थान और उनके अनुष्ठान कर्म मे तुम्हारा अनधिकार होगा, अत तुम सदा अधम ही समझे जाओगे। देवी का उत्सव देखने और उनके नामो का कीर्तन करने मे विमुख होने के कारण तुम सदा अधम बने रहोगे। देवी भक्त के समीप रहने और देवी भक्तो की अर्चना करने के लिए अनधिकारी होकर तुम लोग सदा नीच ब्राह्मण की श्रेणी मे रहोगे। भगवान् शिव का उत्सव देखने और शिव-भक्त का सम्मान करने मे तुम्हारा अधिकार नही होगा, जिससे तुम सदा अधम ब्राह्मण गिने जाओगे। रुद्राक्ष, विल्वपत्र और शुद्ध भस्म धारण करने से वचित होकर तुम सदा अधम ब्राह्मण होकर जीवन व्यतीत करोगे। श्रौत-स्मार्त-सम्बन्धी सदाचार तथा ज्ञान-मार्ग मे तुम्हारी गति नही होगी, अतः तुम सदा अधम ब्राह्मण समझे जाओगे। अद्वैत ज्ञाननिष्ठा तथा शम-दम आदि साधन से तुम सदा उन्मुख होकर अधम ब्राह्मण बन जाओ। नित्यकर्म आदि के अनुष्ठान तथा अग्निहोत्र आदि साधन मे भी तुम्हारा अनधिकार हो और तुम सदा के लिए अधम बन जाओ। स्वाध्या-याध्यन तथा प्रवचन से उन्मुख होकर सर्वदा अधम जीवन व्यतीत करो। गौ आदि दान और पितरो के श्राद्ध से तुम विमुख हो जाओ। कृच्छ्र, चान्द्रायण तथा प्रायश्चित्त व्रत मे तुम्हारा सदा के लिए अनधिकार हो जाओ। पिता, माता, पुत्र, भ्राता, कन्या और भार्या का विक्रय करने वाले व्यक्ति के समान होकर तुम्हे नीच ब्राह्मण होने का अवसर मिल जाये। अधम ब्राह्मणो ! वेद का विक्रय करने वाले तथा तीर्थ एव धर्म बेचने मे लगे हुए नीच व्यक्तियो को जो गति मिलती है, वही तुम्हे प्राप्त हो। तुम्हारे वंश मे उत्पन्न स्त्री तथा पुरुष मेरे दिये हुए शाप से दग्ध होकर तुम्हारे ही समान होगे।"

ब्राह्मणो को इस प्रकार वचन-दण्ड देने के अनन्तर गौतम ऋषि ने जल से आचमन किया। भगवती गायत्री के दर्शनार्थ वे देवालय मे गये। चरणो मे मस्तक झुकाया, तो वे कहने लगी—महाभाग ! सर्प का दुग्ध-पान उसके विष की अभिवृद्धि का हेतु बनता है। तुम धैर्य धारण करो। कर्म की ऐसी ही विपरीत गति है।

शाप से दग्ध होने के कारण उन ब्राह्मणो ने जितना वेदाध्ययन किया था, वह सारा विस्मृत हो गया। गायत्री मंत्र भी उनके लिए अनभ्यस्त हो गया। एक अत्यन्त भयानक दृश्य उपस्थित हो गया। सारे एकत्रित होकर अत्यन्त पश्चात्ताप करने लगे। दण्ड की भाति पृथ्वी पर गिरकर उन्होंने गौतम मुनि को प्रणाम किया। लज्जा के कारण उनके सिर झुके हुये थे और वे कुछ भी कहने मे असमर्थ थे। उनके मुंह से बार-बार यही ध्वनि निकल रही थी—मुनिवर ! प्रसन्न हों, मुनिवर ! प्रसन्न हो। चारो ओर से घेर कर जब वे ब्राह्मण मुनिवर को प्रार्थना करने लगे, तो उनका दयार्द्र हृदय करुणा से भर आया। उन्होने उन नीच ब्राह्मणो से कहा—जब तक भगवान् कृष्ण का जन्म नही होगा, तुम्हे कुम्भीपाक नरक मे अवश्य ही रहना पडेगा, क्योकि मेरा वचन मिथ्या हो नही सकता। इसके बाद तुम लोगो का कलियुग मे इस भूमण्डल पर जन्म होगा। मेरी कही हुई ये बातें अन्यथा नही हो सकती। यदि तुम्हे शाप से मुक्त होना है, तो तुम सब व्यक्तियो के लिए यह परम आवश्यक है कि भगवती गायत्री के चरण कमल की सतत उपासना करो।

महर्षि गौतम ने उन सब ब्राह्मणो को वहाँ से विदा किया और उसे प्रारब्ध का प्रभाव समझकर अपने दिल को शान्त किया।

जब कलियुग आया, तब कुम्भीपाक नरक से निकलकर वे ब्राह्मण भूमण्डल पर आये। पूर्व काल मे जितने ब्राह्मण शपित हो चुके थे, वे ही त्रिकाल-सन्ध्या से हीन तथा गायत्री की भक्ति से विमुख होकर यहाँ उत्पन्न हुए। उस शाप के प्रभाव से ही वेदो में उनकी श्रद्धा नही रही और

और वे पाखण्ड का प्रचार करने लगे। वे अग्निहोत्र आर्य सत्कर्म नहीं करते और उनके मुंह से स्वधा और स्वाहा का उच्चारण भी नहीं होता। उन सबके दण्डित होने पर भी उनके द्वारा दुराचार का ही प्रचार होता है। वहुत सारे लम्पट तो ऐसे हैं, जो अत्यन्त दुराचारी होकर पर-स्त्रियों के साथ कुत्सित व्यवहार करने के कारण अपने घृणित कर्म के प्रभाव से पुन कुम्भीपाक नरक मे ही जायेंगे।

यज्ञोपवीत

चक्रवर्ती को प्रतिवोध देने वाले श्रावको की सख्या प्रतिदिन वढ़ती गई। सच्चे श्रावको के साथ अकर्मण्य व काम से जी चुराने वाले भी चक्रवर्ती के आवास पर पहुँचने लगे और श्रावको के साथ उनके लिए भी ससम्मान भोजन व जीवनोपयोगी अन्य साधन सहजतया उपलब्ध होने लगे। रसोइये ने एक दिन सम्राट् से सारी वस्तुस्थिति निवेदित करते हुए कहा—वेकारो की फौज वढती जा रही है। वहुत सारे ऐसे भी हैं, जो नवकार मन्त्र भी नहीं जानते, पर, सम्राट् को प्रतिवोधित करने के लिए शुक की भाति रटा-रटाया पाठ दुहराकर मुफ्त मे खाना पाते रहते है।

सम्राट् भरत के मन मे उस अकर्मण्यता के प्रति सात्त्विक रोष उभर आया। उन्होंने रसोइये को आज्ञा दी—तुम श्रावक हो। धर्म को भली-भांति जानते हो, अतः जो भी तुम्हारे पास आये, पहले तुम उसकी परीक्षा करो और फिर मेरे पास लेकर आओ।

रसोइये ने भोजन के लिए आने वाले सज्जनो की परीक्षा आरम्भ की। वह प्रत्येक व्यक्ति से नवकार मन्त्र सुनता, श्रावक के लक्षण पूछता तथा पांच अणुव्रतो व सात शिक्षाव्रतो के वारे मे नाना प्रश्न पूछता। उसे जिन पर पूर्णत विश्वास हो जाता, उन्हें चक्रवर्ती के समक्ष उपस्थित करता तथा जो निठल्ले होते, उन्हे वहीं से निकाल देता। भरत अपने काकिणी रत्न से प्रत्येक श्रावक के वक्ष स्थल पर ज्ञान, दर्शन और चारित्र की प्रतीक यज्ञोपवीत की तरह तीन रेखायें खींच देते। हर छठे महीने उन श्रावको

की परीक्षा होती और उत्तीर्ण व्यक्तियो के वक्ष स्थल पर पुनः उसी रत्न से तीन रेखाएँ खींची जातीं। रसोइये को पहचानने मे सुविधा हो गई और वेकारों की वढती हुई फौज रुक गई।

श्रावकों की यह श्रेणी सर्वथा ही नई हुई थी। वे अपना सारा समय तप, जप, स्वाध्याय, ध्यान आदि कार्यों मे ही लगाने लगे। संसार से सर्वथा दूर नही हुए, पर, लगभग अपना सम्वन्ध तोड लिया। उनके पुत्र-पौत्रादिक साधुओं के पास प्रव्रजित होने लगे। दीक्षित होने मे जो असमर्थ होते व परीषहादिक मे असहिष्णु होते वे श्रावको की इस पक्ति मे आ जाते और इस श्रमणभूत पर्याय मे अपना जीवन निर्वाह करते। भरत द्वारा सस्थापित इस परम्परा का सूर्ययशा, महायशा, अतिवल, वलभद्र, वलवीर्य, कीर्तिवीर्य, जलवीर्य और दण्डवीर्य आदि उनके आठ उत्तराधिकारियो ने भी निर्वाह किया। काकिणी रत्न द्वारा लाछित तीन रेखाओ का भरत के निर्वाण के साथ ही लोप हो गया। सूर्ययशा ने उसके स्थान पर सोने की जंजीर का प्रचलन किया। महायशा के समय यज्ञोपवीत चाँदी का बना और फिर क्रमश रेशम के धागो का व रुई के धागों का प्रयुक्त होने लगा। आठो ही राजाओ ने अर्ध भरत मे अपना साम्राज्य चलाया और इन्द्र द्वारा सम्राट् भरत को प्रदत्त मुकुट को भी धारण किया, पर, उसके वाद वहुत भारी होने से उसका उपयोग नही किया जा सका।

भावी तीर्थंकर व चक्रवर्ती कौन ?

शासन-सूत्र का सम्यक् संचालन व अनासक्त भावना मे अपना जीवन व्यतीत करते हुए भरत एक अनूठा ही उदाहरण उपस्थित कर रहे थे। कमल की भाति साम्राज्य से निर्लेप रह कर धर्म-जागरण करते हुए अपनी आत्मा को भावित कर रहे थे। एक वार भगवान् ऋषभदेव जनपद को पावन करते हुए अयोध्या पधारे। चक्रवर्ती भरत उनके दर्शनार्थ वहा आये। भगवान् ने अपने प्रवचन मे मानव-जीवन की अमूल्यता पर प्रकाश

डाला। परिषद् के बीच ही सम्राट् भरत ने एक जिज्ञासा उपस्थित की। "प्रभो! इस भरत क्षेत्र में आपके सदृश कितने धर्म-चक्री होंगे और चक्रवर्ती, वासुदेव, बलदेव व प्रतिवासुदेव कितने होंगे?"

भगवान् ऋषभदेव ने उस प्रश्न को सविस्तार समाहित करते हुए आगामी तेवीस तीर्थंकर व ग्यारह चक्रवर्ती, नौ-नौ वासुदेव, बलदेव और प्रतिवासुदेव के गोत्र, नगर, माता-पिता, नाम, आयु, वर्ण, शरीर का मान, पारस्परिक अन्तर, दीक्षा-पर्याय तथा गति आदि के सम्बन्ध में प्रकाश डाला।

भरत ने दूसरा प्रश्न पूछा: "विभो! आज की इस परिषद् में ऐसी भी कोई आत्मा है, जो आपकी तरह तीर्थ की स्थापना कर इस भरत क्षेत्र को पवित्र करेगी?"

भगवान् ने उत्तर दिया—अधिक दूर जाने की आवश्यकता नहीं है। तेरा पुत्र मरीचि प्रथम त्रिदण्डी परिव्राजक है। आर्त्त-रौद्र ध्यान से रहित, सम्यक्त्व से सुशोभित व धर्म ध्यान का एकान्त में अवलम्बन करता है। इसकी आत्मा अब तक कर्म-मल से मलिन है। शुक्ल ध्यान के अवलम्बन से क्रमश वह शुद्ध होगी। इस भरत क्षेत्र के पोत्तनपुर नगर में इसी अवसर्पिणी काल में वह त्रिपृष्ठ नामक पहला वासुदेव होगा। क्रमशः परिभ्रमण करता हुआ, वह पश्चिम महाविदेह में धनजय और धारणी दम्पती का पुत्र होकर प्रियमित्र नामक चक्रवर्ती होगा। अपने संसार-परिभ्रमण को समाप्त करता हुआ वह इसी चौवीसी में महावीर नामक चौवीसवा तीर्थंकर होकर तीर्थ की स्थापना करेगा तथा स्वयं सिद्ध, बुद्ध व मुक्त बनेगा।

अपने प्रश्न का उत्तर सुनकर भरत बहुत आह्लादित हुए। उन्हें इस बात से भी अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि उनका पुत्र पहला वासुदेव, चक्रवर्ती व अन्तिम तीर्थंकर होगा। परिव्राजक मरीचि को सूचना व बधाई देने के निमित्त भगवान् के पास से वे उसके पास आये। भगवान् के साथ हुए अपने वार्तालाप से उसे परिचित किया और अयोध्या लौट आये। मरीचि

को इसने अपार प्रसन्नता हुई। वह तीन ताल देकर आकाश मे उछला और अपने भाग्य को बार-बार सराहने लगा। उच्च स्वर से बोलने लगा—-मेरा कुल कितना श्रेष्ठ है। मेरे दादा प्रथम तीर्थंकर हैं। मेरे पिता प्रथम चक्रवर्ती हैं। मैं पहला वासुदेव होऊंगा व चक्रवर्ती होकर अन्तिम तीर्थंकर होऊंगा। मेरे सभी मनोरथ पूर्ण हुए। सब कुलो मे मेरा ही कुल सर्वश्रेष्ठ है।

व्यक्ति अपने मानसिक स्पन्दन, वाचिक स्फुरणा व कायिक प्रवृत्तियों से कर्म-पुद्गलो को आकृष्ट करता रहता है। अहं, छद्म व लालसा आदि व्यक्ति के कार्यों को मलिन करने के साथ-ही-साथ आत्म-भावो को भी अपवित्र करते हैं। कुल का अह मरीचि के पवित्र जीवन को दूषित करने वाला बना।

अल्पारम्भी या बहु-आरम्भी

भरत की जिज्ञासा पूर्ण होने के अनन्तर श्री ऋषभसेन गणधर ने भगवान् से पूछा . 'भन्ते ! षट्खण्डाधिप चक्रवर्ती भरत अल्पारम्भी हैं या बहु-आरम्भी ? इनकी गति कौन-सी है ?"

भगवान् ने उत्तर दिया—-भरत अल्पारम्भी है और चरम शरीरी है, अत. इसी जन्म में मोक्षगामी है।

भगवान् द्वारा प्रदत्त वह उत्तर पानी मे तेल बिन्दु की तरह अति-शीघ्र ही सारे शहर मे फैल गया। कुछ उसे सुनकर हर्षित हुए और कुछ ने उसका उपहास भी किया। एक बार सम्राट् के समक्ष नगर-रक्षक ने एक चोर को उपस्थित किया। उसका अपराध प्रमाणित हो चुका था, अत उसे मृत्यु-दण्ड दे दिया गया। चोर गिडगिडाने लगा और चक्रवर्ती से अपने अपराध की क्षमा मागने लगा। उसने आग्रहपूर्वक दूसरी बार अपराध न करने का विश्वास दिलाया। करुणाशील चक्रवर्ती ने यह कहते हुए कि चोरी छोड देने से चोर तो स्वत. ही समाप्त हो जाता है; अपराधी को मुक्त कर दिया।

दण्ड-मुक्त हो जाने से चोर ने सुख की सास ली; पर, चोरी नही छोडी। एक वार वह फिर उसी अपराध मे पकड़ा गया। नगर-रक्षक उसे लेकर चक्रवर्ती के पास आया। अपराध की पुनरावृत्ति को देखकर सम्राट् क्रुद्ध हो गये और उन्होंने इस वार उसे मृत्यु-दण्ड सुना दिया। यह घटना भी शहर मे फैल गई। आतंक फैलाने वालो को शिक्षा मिली, पर, कुछ विद्वेषी व्यक्तियो ने उसे दूसरे ही रग मे रग दिया। घटना को अतिरञ्जित कर सर्वत्र इस रूप मे प्रसारित किया गया कि वीतराग प्रभु के घर मे भी साक्षात् पक्षपात है। चक्रवर्ती भरत ने वडे-वडे युद्ध लड़े हैं। लाखो व्यक्तियो का सहार करवाया है। छ. खण्डो के राज्य मे, तज्जनित ऐश्वर्य व विलास मे आसक्त हैं। प्राणियो की हत्या करने मे तनिक भी नही हिचकिचाते। चोर का मृत्यु-दण्ड इसका प्रमाण है। सम्राट् अल्पारम्भी कैसे हो सकते है और कैसे मोक्षगामी हो सकते हैं ?

एक व्यक्ति ने खुल्ले रूप मे यह आलोचना की। चक्रवर्ती भरत को सारी वस्तुस्थिति निवेदित की गई। सार्वजनिक आलोचना के अभियोग मे उसे वन्दी वनाकर मृत्यु दण्ड सुना दिया गया। वह वहुत घवराया तथा सम्राट् के पैरों मे गिर पडा। अपने अपराध के लिए पुन -पुन. क्षमा मागने लगा। वहुत कुछ अनुनय-विनय के पश्चात् भरत ने कहा––यदि तू तेल से लवालव भरा हुआ कटोरा हाथ मे लेकर शहर के प्रमुख मार्गों से चक्कर लगाकर यहा चला आये और तेल की एक वूँद भी नीचे न गिरने, दे तो इस सजा से वच सकता है। अभियुक्त ने सव कुछ स्वीकार कर लिया।

दूसरे ही दिन सम्राट् के आदेश से शहर के प्रमुख-प्रमुख मार्गों मे विशेष रूप से कही नाटक होने लगे, कही सगीत होने लगा, तो कही और कुछ उत्सव होने लगे। अभियुक्त लवालव भरे उस कटोरे को लेकर वहाँ से सहस्र सैनिको के पहरे मे चला। वडी भीड तथा नाटक,

सगीत व उत्सव के मार्गों को पार कर वह पुन भरत के पास पहुँच गया। भरत ने पूछा—क्यो घूम आया ?

अभियुक्त—हाँ, महाराज !

भरत—नगर मे आज तू ने क्या-क्या देखा ?

अभियुक्त—कुछ भी नही देखा महाराज !

भरत—स्थान-स्थान पर होनेवाले नाटक तो देखे होगे ?

अभियुक्त—महाराज ! आज तो मुझे मृत्यु के अतिरिक्त और कुछ भी दिखलाई नही देता था।

भरत—कही सगीत तो सुना होगा ?

अभियुक्त—आपकी साक्षी से कहता हूँ, मौत की गुनगुनाहट के अतिरिक्त कुछ भी नही सुना। नाटक या सगीत हो रहे होंगे, पर, मेरे लिए तो प्राणो का प्रश्न था। इधर-उधर देखकर आनन्द लूटू या प्राण बचाकर जिन्दगी का सुख लूटूं ?

भरत—मौत का इतना डर ?

अभियुक्त - सम्राट् ! आप इसे क्या जानें ? यह तो वही जान सकता है, जिसके ऊपर बीतती है।

भरत—तो क्या मैं अमर रहूँगा ? तू तो एक जीवन की मौत से डर गया। न कही तू ने नाटक देखा, न कही सगीत सुना और न कही ऊँची नजर ही उठाई। मैं तो मौत की लम्बी परम्परा से परिचित हूँ, क्या यह साम्राज्य मुझे लुभा सकता है ?

अभियुक्त का शिर शर्म से झुक गया। उसे अपनी उद्दण्डता पर घृणा हुई। उसने क्षमा माँगी और अपराध-मुक्त होकर अपने घर चला गया।

भरत के सोलह स्वप्न

श्वेताम्बर परम्परा में सम्राट् चन्द्रगुप्त के सोलह स्वप्न प्रसिद्ध हैं, किन्तु, दिगम्बर परम्परा मे चक्रवर्ती भरत और सम्राट् चन्द्रगुप्त, दोनो

के सोलह-सोलह स्वप्न विश्रुत हैं। दोनों ही प्रकार के स्वप्नों का परिणाम पञ्चम आरे से सम्बन्धित है।

चक्रवर्ती भरत ने एक ही रात मे सोलह स्वप्न देखे। वे उस स्वप्न-दर्शन से नितान्त चिन्तित हुए। बहुत कुछ विमर्षण के अनन्तर भी वे किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच सके। वे प्रात.काल कैलाश पर्वत पर विराजमान भगवान् श्री ऋषभदेव के समवसरण मे पहुँचे। वन्दना और स्तुति के अनन्तर उन्होने अपने एक-एक कर सारे स्वप्न निवेदित किये और भगवान् से उनका फलादेश जानना चाहा। भगवान् श्री ऋषभदेव उन स्वप्नों को सुनकर गम्भीर हो गये। भरत सहमे और उन्होंने पूछा—क्यो, महाप्राण! ये स्वप्न कैसे हैं? भगवान् ने उत्तर दिया—इन स्वप्नो मे भावी पञ्चम आरे का निदर्शन है, जो बड़ा वीभत्स होने के साथ-साथ प्रवर्तमान परम्पराओं के महान् ह्रास का द्योतक है। तुम अपने स्वप्न सुनाओ और मैं तुम्हें उनका फल बताऊँगा।

१ भरत—भगवन्! एक घने और सुविस्तृत कानन मे स्वेच्छया सिंह विचर रहे थे। मैंने उनको गिना, वे तेवीस थे। वे कानन से निकल-कर पर्वत पर चढते गये और पर्वत के सर्वोच्च शिखर पर पहुँचकर उस पार चले गये। वे आँखो से ओझिल हो गये, फिर भी उनकी गूंज सुनाई देती रही।

भगवान् ऋषभदेव—तेवीस सिंह भावी तेवीस तीर्थंकरो के प्रतीक हैं। तेवीस तीर्थंकरो के समय तक जैन साधु अपने धर्म मे दृढ रहेंगे। इन तीर्थंकरो के निर्वाण-पद प्राप्त कर चुकने पर भी उनके उपदेशो की गूंज सुनाई देती रहेगी।

२ भरत—एक सिंह के पीछे बहुत सारे हिरण चले जा रहे थे।

भगवान् ऋषभदेव—सिंह चौवीसवें तीर्थंकर का द्योतक है। हिरण उनके धर्मानुयायी हैं, जिनमे उस सिंह जैसी न तो शक्ति है और न धर्म-परायणता। वे लोग तीर्थंकर के पद-चिह्नों का अनुसरण करना

तो चाहेंगे, किन्तु, कर नहीं पायेंगे। ऐसा भी होगा कि वे भटक कर पथ-भ्रष्ट हो जायें और मिथ्या प्ररूपणायें करें।

३. भरत--एक अश्व गज से भाराक्रान्त हो रहा था।

भगवान् ऋषभदेव--अश्व मुनि का प्रतीक है। पचम काल मे मुनिजन अपने पर ऐसी सत्ताओ का आरोप मान बैठेंगे, जो उन्हें दबा देगी। उस युग मे साधु लोग शक्ति-प्राप्त करने के इच्छुक हो जायेंगे और वही शक्ति उनकी आत्मा को धर दबोचेगी।

४ भरत--अजा-समूह सूखी पत्तियाँ चर रहा था।

भगवान् ऋषभदेव--इसके दो अर्थ हैं। पचम काल मे अतिवृष्टि और अनावृष्टि के कारण दुर्भिक्ष होंगे। अन्न की अत्यन्त अल्पता हो जायेगी, जिससे जन साधारण अभक्ष्य और अनुपसेव्य पदार्थों का भक्षण करेंगे। स्वास्थ्य के लिए हानिकारक पदार्थों के प्रयोग से भावी सन्तति अजा-समूह की तरह निर्बल हो जायेगी।

५ भरत--हाथी की पीठ पर एक मर्कट बैठा था।

भगवान् ऋषभदेव--हाथी सत्ता का प्रतीक है। पञ्चम काल मे सत्ता निम्नस्तरीय (पाशविक) व्यक्तियो के हाथ मे चली जायेगी। राज-सत्ता क्षत्रियो का साथ छोड देगी। धर्म-सत्ता मानवता से शून्य हो जायेगी। पाशविक वृत्तियाँ बढेगी और सत्ता की बन्दर-बाँट होगी। राजनीति, समाज और धर्म मे छल, दम्भ, चोरी, सीनाजोरी, स्वार्थ और वैमनस्य आदि अतिशय बढ जायेंगे। सत्ताधिकारियो मे चरित्रवान् व नीतिज्ञ व्यक्तियो की अल्पता हो जायेगी।

६. भरत--एक हस अनगिन कौवों द्वारा मारा जा रहा था।

भगवान् ऋषभदेव--उस युग मे ज्ञानी और विवेकी सज्जनो पर धूर्त आक्षेप करेंगे, उन्हे पीटेंगे और नाना प्रकार से त्रास देंगे। जैन साधुओ को अन्य मतानुयायी अनेक प्रकार की यातनायें भी देंगे।

७ भरत--प्रेत नृत्य कर रहा था।

भगवान् ऋषभदेव—भविष्य मे प्रेत-आत्माओ की पूजा बढ़ेगी। जनता राक्षसी-सत्ता की उपासक हो जायेगी।

८ भरत—तालाव का मध्य भाग तो सूखा पड़ा था, किन्तु, उसके आस-पास पानी भरा था।

भगवान् ऋषभदेव—तालाव ससार है। जिसका मध्य भाग सस्कृति और ज्ञान का केन्द्र आर्यावर्त है। एक समय ऐसा आयेगा, जब कि यहाँ ज्ञान और सस्कृति नही रहेगी। आस-पास के अन्य देश संस्कृति और ज्ञान से समृद्ध हो जायेंगे।

९ भरत—रत्नो का ढेर मिट्टी से आवृत्त था।

भगवान् ऋषभदेव—ज्ञान और भक्ति रूपी रत्न अज्ञान और अश्रद्धा की मिट्टी के नीचे दब जायेंगे। साधुजन शुक्ल ध्यान को प्राप्त नहीं कर पायेंगे।

१०. भरत—एक कुत्ता मौज से मिठाइयां उड़ा रहा था और लोग उसकी पूजा कर रहे थे।

भगवान् ऋषभदेव—उस युग मे नीच व्यक्ति मजे मे रहेगे, पूज्य माने जायेंगे और वे ही दर्शनीय होगे।

११-१२ भरत—एक जवान बैल मेरे आगे से विल्लाता हुआ निकला। दो बैल कन्धे-से-कन्धा मिलाये चले जा रहे थे।

भगवान् ऋषभदेव—पचम काल मे युवक जैन मुनि होंगे और अनभिज्ञता के कारण बदनाम होगे। धर्म-प्रचार के लिए एकाकी भ्रमण का साहस नही कर सकेंगे।

१३ भरत—चन्द्रमा पर धुन्ध-सी छाई हुई थी।

भगवान् ऋषभदेव—चन्द्रमा संसारी आत्मा है। पचम काल मे आत्मा कलुषित हो जायेगी, सद्भावनाएँ नष्ट हो जायेंगी और तत्त्व-ज्ञान लुप्त हो जायेगा।

१४. भरत—सूर्य मेघाच्छन्न दिखाई दिया।

भगवान् ऋषभदेव—उस समय मे किसी को सर्वज्ञता प्राप्त नहीं होगी।

१५. भरत—छायाहीन एक सूखा पेड देखा।

भगवान् ऋषभदेव—धर्माचरण के अभाव मे तृष्णा वढेगी और उसके साथ ही अशान्ति भी वढेगी।

१६. भरत—सूखे पत्तो का एक ढेर देखा।

भगवान् ऋषभदेव—पंचम काल मे औषधियाँ और जड़ी-वूटिया अपनी शक्ति खो बैठेंगी और रोग वढेंगे।

भगवान् ऋषभदेव का निर्वाण

भगवान् ऋषभदेव कौशल, मगध, काशी, दशार्ण, चेरी, गुर्जर व सौराष्ट्र आदि जनपदो मे अपने गणधरो के साथ विहरण करते हुए शत्रुजय पर्वत पर पधारे। वहाँ पुण्डरीक (ऋषभसेन) आदि गणधरो व साधुओ को निर्देश दिया—तुम यहाँ तपश्चरण व शुक्ल ध्यान से अपनी आत्मा को भावित करो। तुम शीघ्र ही शैलेशी अवस्था प्राप्त कर मोक्ष-पद को प्राप्त करोगे। हम यहाँ से अन्यत्र विहार करते हैं।

पुण्डरीक आदि गणधर व साधुओं ने प्रभु के आदेश को शिरोधार्य किया और उसी तरह आत्मा को भावित करते हुए केवल ज्ञान प्राप्त कर निर्वाण-पद को प्राप्त हुए

भगवान् स्वयं अष्टापद पर्वत पर पधारे। शिष्य-समुदाय के साथ चतुर्दश भक्त (छ दिन की तपस्या) मे पादोपगमन अनशन कर दिया। सम्राट् भरत के पास जव यह सवाद पहुँचा, तो वे अत्यन्त खिन्न हुए और भगवान् के दर्शनार्थ अष्टापद पर्वत पर पहुँचे। स्वर्ग से इन्द्र भी अपने परिवार के साथ भगवान् के दर्शनार्थ आया। अवसर्पिणी काल के इस तीसरे आरे के जब नवानवे पक्ष अवशिष्ट थे, माघ कृष्णा १३ के दिन पूर्वाह्न के समय भगवान् ऋषभदेव निर्वाण-पद को प्राप्त हुए। अन्य गणधरो व साधुओ ने भी क्षपक श्रेणी का अवलम्बन कर केवल ज्ञान प्राप्त किया और क्रमश. मोक्षाधिरूढ बने।

सम्राट् भरत, इन्द्र व अन्य सभी प्राणियो को भगवान् के विरह मे अपार वेदना हुई, किन्तु, नियति के सम्मुख प्रत्येक को अपनी हार माननी ही पडा करती है।

भरत को केवल ज्ञान की प्राप्ति

भरत चक्रवर्ती थे। षट् खण्डो मे उनका अखण्ड अनुशासन था। कुबेर की तरह अखूट खजाना था; ऐश्वर्य एवं विलास के अपरिमित साधन थे, पर, वे अनासक्त भावना से ही अपना जीवन जीते थे। सब तरह से सन्तुष्ट व तृप्त थे। सांसारिक चमक उन्हे लुभा नहीं सकी थी। एक दिन भरत स्नान आदि कार्यो से निवृत्त होकर शीश महल में बैठे थे। महल मे चारो ओर मानवाकार शीशे जडे हुए थे, अत. सब ओर ही प्रतिबिम्ब पड़ता था। भरत की अंगुलि से अगूठी निकलकर सहसा नीचे गिर पडी। भरत इससे अज्ञात रहे, किन्तु, दर्पण मे अचानक ही उनका ध्यान अपनी हथेली की ओर गया, वह अगुलि शोभाविहीन प्रतीत हुई। सम्राट् ने अपने मुकुट, कुण्डल, हार आदि आभूषण क्रमश. उतारे, तो वे अवयव भी नितान्त फीके लगने लगे। जो अवयव अत्यन्त शोभित हो रहे थे, वे उतने ही अशोभित हो गये। भरत का ऊर्ध्वमुखी चिन्तन हुआ। क्या वह शोभा है, जो सयोगिक होती है? क्या वह भी सुन्दरता है, जो जड की परिणामजा है? आभूषण जड हैं। मैं चेतन हूँ। आभूषण विकारज हैं और मेरी सत्ता निर्विकार है। निर्विकार सत्ता की सुन्दरता क्या सविकार पदार्थ के द्वारा बढ़ती है? इस अनित्य भावना के चिन्तन के परिणामस्वरूप भरत सम्यक्त्वी से व्रती, व्रती से अप्रमत्त, अप्रमत्त से वीतराग और वीतराग से क्षीण मोह बने और चार कर्मो के नाश से केवल ज्ञानी बने। राजमहलो मे, राजकीय वेश-भूषा मे तथा अपने अवयवो का निरीक्षण करते हुए विरक्ति के चरम बिन्दु पर पहुँच जाना, अत्यन्त असाधारण घटना थी।

केवल ज्ञान-प्राप्ति के अनन्तर चक्रवर्ती ने अपना पच मुष्टि लुचन किया, साधु-वेश पहना व महल छोड़कर एक निर्ग्रन्थ की भांति निकल पडे।

अन्त पुर की रानियो, मंत्रि-परिषद् के सदस्यो, राजाओ व नागरिको ने भरत का जब वह वेश देखा, जन समूह उमड पडा। सभी ने उसे एक विनोद समझा, किन्तु, भरत ने जब वस्तुस्थिति का उद्घाटन किया, तो इस विराग का विरह के द्वारा स्वागत हुआ। रानियो ने अनुरक्ति का, मंत्रियो ने साम्राज्य-संचालन का, नागरिको ने भक्ति का व मित्रो ने प्रेम का पाश छोडकर उसमे उन्हे आवद्ध करने का प्रयत्न किया, पर, हाथी के निकले हुए दाँत कब वापिस हुए ? केवली भरत ने सभी को प्रतिवोध दिया तथा विरह को विरक्ति मे परिणत करने की प्रेरणा दी। हजारो राजाओ, राज-कुमारो व अन्य नागरिको ने भी विरक्त होकर उनका अनुगमन किया। बहुत समय तक संयम-पर्याय का पालन करते हुए महर्षि भरत अष्टापद पर्वत पर अनशन पूर्वक मोक्ष-धाम को प्राप्त हुए।

शीश महल का विध्वंस

सूर्ययशा चक्रवर्ती भरत का उत्तराधिकारी बना। उसने भी अपने पिता की तरह शासन-सूत्र का सचालन करते हुए महती लोकप्रियता प्राप्त की। अन्तिम समय उसी शीश महल मे अनित्य भावना का चिन्तन करते हुए गृहस्थ-वेश मे ही केवल ज्ञान प्राप्त किया। महायशा अतिवल, वलभद्र आदि भरत के आठ उत्तराधिकारियो ने अपनी परम्परा का विधिवत् पालन किया। राज्य-व्यवस्था के साथ-ही-साथ धार्मिक परम्पराओ का भी परिवर्धन किया और उसी शीश महल मे उसी चिन्तन के द्वारा केवल ज्ञान प्राप्त किया।

नवम उत्तराधिकारी अपने पूर्वजो से विपरीत आचरण व विचार वाला हुआ। जब उसने अपने सभी पूर्वजो को एक ही महल मे केवल ज्ञान उत्पन्न होने की घटना को सुना, तो वडा ही अन्यमनस्क हुआ। उसे यही विचार आया, "जो महल इतने वडे साम्राज्य के सुखपूर्ण उपभोग से उप-रत करता है, वह किस काम का ? यदि यह महल इसी रूप मे रहा, तो न

मालूम और कितने व्यक्तियो को विरक्ति के इस जाल मे फँसायेगा। मेरे पर भी कही इस महल का असर न हो जाये।" उसने अपने अनुचरो को आदेश देकर तत्काल उसे गिरवा दिया और अपने उस कार्य पर वह फूला नही समाया। सद्विचारो के उत्प्रेरक उपकरण उस व्यक्ति के पास नही रह सकते, जो अपने विचारो मे मलिनता लिए हुए होता है।

जैन परम्परा मे भरत की वंशावलि

- नाभि
  - ऋषभदेव
    - भरत (चक्रवर्ती)
      - सूर्ययशा (उत्तराधिकारी)
      - ऋषभसेन (प्रथम गणधर)
      - मरीचि (आदि) (त्रिदण्डी तापस)
    - बाहुबली (आदि सौ भाई)
      - सोमप्रभ
        - श्रेयांसकुमार (प्रथम दानी)
    - ब्राह्मी (पुत्री)
    - सुन्दरी (पुत्री)
    - नमि (दत्तक पुत्र)
    - विनमि (दत्तक पुत्र)

त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र के आधार पर

: २ :

वैदिक वाङ्मय में

वेदों मे

प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव और चक्रवर्ती भरत जैन परम्परा मे श्लाघ्यपुरुष व मानवीय सस्कृति के आदि सूत्रधार के रूप मे तो माने ही गये है, वैदिक परम्परा मे भी स्वय ब्रह्मा ने ऋषभदेव के रूप मे आठवां अवतार ग्रहण किया था। ऋषभ-पुत्र भरत वहा भी अपने सौ भाइयो मे ज्येष्ठ, शासन-सूत्र के सचालन मे परम निपुण तथा निवृत्तिपरायण माने गये हैं। दोनो ही परम्पराओ मे दोनो ही श्लाघ्यपुरुषो के जीवन की अधिकांश सदृशता गवेषको के लिए बहुत कुछ नवीन तथ्यों की उद्भावक है। प्रस्तुत प्रकरण मे वेद व पुराणो के आधार पर उनका जीवन तथा उस परम्परा मे उनके प्रति अभिव्यक्त अनिर्वचनीयता का सक्षिप्त समुल्लेख किया जा रहा है।

वेदो मे अर्हन्[1] तथा अर्हन्त[2] शब्द का प्रयोग-बाहुल्य उस परम्परा की जैन धर्म के प्रति विशेष भावना तो व्यक्त करता ही है, साथ ही

---

१. अर्हन् विभर्षि सायकानि धन्वार्हन्निष्कं यजतं विश्वरूपम्।
अर्हन्निदं दयसे विश्वमभ्वं न वा ओजीयो रुद्र त्वदस्ति॥
—ऋग्वेद, मं० २ अ० ४ सू० ३३ वर्ग १०

२. क—इमंस्तोममर्हते जातवेदसेरथमिव समहेमामनीषया।
भद्राहिनः प्रमतिरस्यसंसद्यग्ने सख्ये मारिषामावयं तव॥
—ऋग्वेद, मं० १ अ० १५ सू० ९४

ऋषभदेव, सुपार्श्वनाथ[1] अरिष्टनेमि[2], महावीर[3] आदि की नाम-ग्राह की गई स्तुति तथा उन्हें अनिर्वचनीय पुरुष मानकर उनके उपदेशों पर चलने की प्रेरणा भी दी गई है।

ख—अर्हन्तो ये सुदानवो नरो असामि शवस. ।
प्रयज्ञ यज्ञियेभ्यो दिवो अर्चामरुद्भ्यः ।
—ऋग्वेद, मं० ५ अ० ४ सू० ५२

ग—तावृधन्तावनु द्यून्मर्ताय देवावदभा ।
अर्हन्ताचित्पुरो दधेऽशेव देवावर्वते ॥
—ऋग्वेद, म० ५ अ० ६ सू० ८६

घ—ईडितो अग्ने सनसानो अर्हन्देवान्यक्षि मानुषात्पूर्वो अद्य ।
स आवह मरुतां शर्धो अच्युतमिन्द्र नरोबर्हिषदंयजध्व ॥
—ऋग्वेद, मं० २ अ० ११ सू० ३

१. ॐ सुपार्श्वमिन्द्र हवे —यजुर्वेद,

२. क—ॐ रक्ष रक्ष अरिष्टनेमि स्वाहा —यजुर्वेद, अ० २६

ख—तवा रथ वयद्याहुवेमस्तो मेरश्विना सविताय नव्य ।
अरिष्टनेमि परिद्यामियान विद्यामेप वृजन जीरदानम् ॥
—ऋग्वेद, अ० २ अ० ४ व २४

ग—वाजस्यनु प्रसव आवभूवेमा, च विश्वा भुवनानि सर्वत ।
स नेमिराजा परियाति विद्वान्, प्रजा पुष्टि वर्धयमानो अस्मै स्वाहा ।
—यजुर्वेद, अ० ९ मत्र २५

घ—स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवा', स्वस्ति न. पूषा विश्ववेदा ।
स्वस्ति न स्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमि., स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ।
—सामवेद, प्रपा० ९ अ० ३

३. क—आतिथ्यरूपम्मासरम्महावीरस्य नग्नहुः ।
रूपमुपसदामेतिस्रो रात्री सुरासुता ॥ —यजुर्वेद, अ० १९म० १४

ऋग्वेद व अथर्ववेद मे ऐसे अनेक मन्त्र हैं, जिनमे ऋषभदेव की स्तुति अहिंसक आत्म-साधको मे प्रथम, अवधूत चर्या के प्रणेता तथा मर्त्यों मे सर्व-प्रथम अमरत्व अथवा महादेवत्व पाने वाले महापुरुष के रूप मे की गई है। एक स्थान पर उन्हें ज्ञान का आगार तथा दु खों व शत्रुओं का विध्वसक बताते हुए कहा गया है :

असूतपूर्वा वृषभो ज्यायनिभा अस्य शुरुधः सन्तिपूर्वीः ।
दिवो न पाता विदथस्यधीभिः क्षत्रं राजाना प्रदिवो दधाथे ॥
—ऋग्वेद, ५-३८

जिस प्रकार जल से भरा हुआ मेघ वर्षा का मुख्य स्रोत है और जो पृथ्वी की प्यास को बुझा देता है, उसी प्रकार पूर्वी अर्थात् ज्ञान के प्रतिपादक वृषभ महान् हैं। उनका शासन वर दे। उनके शासन मे ऋषि-परम्परा से प्राप्त पूर्व का ज्ञान आत्मा के क्रोधादि शत्रुओ का विध्वंसक हो। दोनो (ससारी और शुद्ध) आत्माएं अपने ही आत्म-गुणो मे चमकती हैं, अत॰ वे ही राजा हैं, वे पूर्ण ज्ञान के आगार हैं और आत्म-पतन नही होने देते।

ऋग्वेद के एक दूसरे मत्र मे उपदेश और वाणी की पूजनीयता तथा शक्ति-सम्पन्नता के साथ उन्हें मनुष्यो और देवो मे पूर्वयावा माना गया है .

मखस्य ते तीवषस्य प्रजूतिमियर्मि वाचमृताय भूषन् ।
इन्द्र क्षितीमामास मानुषीणा विशा दैवी नामुत पूर्वयावा ॥
—ऋग्वेद, २।३४।२

हे आत्म-द्रष्टा प्रभो ! परम सुख पाने के लिए मैं तेरी शरण में आता हूँ, क्योकि तेरा उपदेश और वाणी पूज्य और शक्तिशाली हैं। उनको

ख—देववहिवर्वमान सुवीरं, स्तीर्ण रायेसुमर वेद्यस्याम् ।
घृतेनाक्तवसव. सीदतेद, विश्वे देवा आदित्यायज्ञियास. ॥
—ऋग्वेद, मं० २ अ०१ सू०३

मैं अव धारण करता हूँ। हे प्रभो! सभी मनुष्यो और देवो में तुम्हीं पहले पूर्वयावा (पूर्वगत ज्ञान के प्रतिपादक) हो।

कुछ मन्त्रो मे उनका नामोल्लेख नही हुआ है, पर, उनकी आकृति को विशेष लक्ष्य करते हुए उनकी गरिमा व्यक्त की गई है

त्रिणी राजना विदथे पुरूणि परिविश्वानिभूषथः सदांसि।
अपश्यमत्र मनसा जगन्वान्वते गन्धर्वा अपि वायुकेशान्॥
-ऋग्वेद, २।३८।६

दोनो ही राजा अपने त्रिरत्न ज्ञान मे सभाओ के हित मे चमकते हैं। वह सर्वथा निज ज्ञान मे जागरूक व्रतो के पालक हैं एवं वायुकेश गधर्वों से वेष्टित रहते हैं। वे गन्धर्व (गणधर) उनकी शिक्षाओ को अवधारण करते हैं। हमें उनके दर्शन प्राप्त हो।

ऋषभदेव का प्रमुख सिद्धान्त था कि आत्मा मे ही परमात्मत्व का अधिष्ठान है, उसे प्राप्त करने का उपक्रम करो। इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए वेदो मे उनका नामोल्लेख करते हुए कहा गया है·

त्रिधा वद्धो वृषभो रोरवीती, महादेवो मर्त्यानाविवेश।
—ऋग्वेद, ४।५८।३

मन, वचन, काय; तीनो योगों से वद्ध (सयत) वृषभ (ऋषभदेव) ने घोषणा की कि महादेव (परमात्मा) मर्त्यों मे आवास करता है।

उन्होंने अपनी साधना व तपस्या से मनुष्य-शरीर मे रहते हुए, उसे प्रमाणित भी कर दिखाया था, ऐसा उल्लेख भी वेदो मे है।

तन्मर्त्यस्य देवत्वमजानमग्रे।
—ऋग्वेद, ३१।१७

ऋषभ स्वय आदि पुरुष थे, जिन्होने सबसे पहले मर्त्यदशा मे देवत्व की प्राप्ति की थी।

ऋषभदेव प्रेम के राजा के रूप मे विख्यात थे। उन्होंने जिस शासन की स्थापना की थी, उसमे मनुष्य व पशु, सभी समान थे। पशु भी मारे नही जाते थे।

नाम्य पशून् समानान् हिनास्ति।

—अथर्ववेद

सव प्राणियो के प्रति इस मैत्रि-भावना के कारण ही वे देवत्व के रूप मे पूजे जाते थे।

ऋषभं मा समासानां सपत्नानां विषासहितम्।
हन्तारं शत्रूणां कृषि विराजं गोपितं गवाम्॥

— ऋग्वेद, अ० ८ मं० ८ सू० २४

मुद्गल ऋषि पर ऋषभदेव की वाणी के विलक्षण प्रभाव का उल्लेख करते हुए कहा गया है:

ककर्दवे वृषभो युक्त आसीद् अवावचीत् सारथिरस्य केशी।
दुधेर्युक्तस्य द्रवतः सहानस ऋच्छन्ति ष्मा निष्पदो मुद्गलानीम्॥

—ऋग्वेद, १०।१०२।६

मुद्गल ऋषि के सारथी (विद्वान् नेता) केशी वृषभ जो शत्रुओ का विनाश करने के लिए नियुक्त थे, उनकी वाणी निकली, जिसके फल-स्वरूप जो मुद्गल ऋषि की गौवें (इन्द्रियाँ) जुते हुए दुर्धर रथ (शरीर) के साथ दौड रही थी, वे निश्चल होकर मौद्गलानी (मुद्गल की स्वात्म-वृत्ति) की ओर लौट पडी।

इसीलिए उन्हें आह्वान करने की प्रेरणा दी गई है:

अहोमुच वृषभं यज्ञियानां विराजंतं प्रथममध्वराणाम्।
अपां न पातमश्विना हुॅवे धिय इन्द्रियेण इन्द्रियं दत्तमोजः॥

—अथर्ववेद, कां० १९।४२।४

समस्त पापो से मुक्त, अहिंसक वृत्तियो के प्रथम राजा, आदित्य-स्वरूप श्री ऋषभदेव को मैं आह्वान करता हूँ। वे मुझे बुद्धि और इन्द्रियो के साथ बल प्रदान करें।

ऋग्वेद मे उन्हें स्तुति-योग्य बताते हुए कहा गया है :

अनर्वाणं ऋषभं मन्द्रजिह्वं, बृहस्पतिं वर्धया नव्यमर्कै

—म० १ सूत्र १९० मंत्र १

मिष्टभाषी, ज्ञानी, स्तुति-योग्य ऋषभ को पूजा-साधक मन्त्रो द्वारा वर्धित करो। वे स्तोता को नही छोडते।

प्राग्नये वाचमीरय

—ऋग्वेद, मं० १० सू० १८७

तेजस्वी ऋषभ के लिए स्तुति प्रेरित करो।

यजुर्वेद, अ० ३१ मन्त्र ८ की एक स्तुति मे कहा गया है :

वेदाहमेतं पुरुष महान्तमादित्यवर्णं तमसः पुरस्तात्।
तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्य पंथा विद्यतेऽयनाय ॥

मैंने उस महापुरुष को जाना है, जो सूर्य के समान तेजस्वी, अज्ञानादि अंधकार से दूर है। उसी को जानकर मृत्यु से पार हुआ जा सकता है, मुक्ति के लिए अन्य कोई मार्ग नही है।

यह स्तुति और जैनाचार्य मानतुग द्वारा की गई भगवान् ऋषभदेव की स्तुति शब्द-साम्य की दृष्टि से विशेष ध्यान देने योग्य है। भक्तामर स्तोत्र मे वे कहते हैं :

त्वामामनन्ति मुनयः परमं पुंमान्स।
मादित्यवर्णममल तमसः पुरस्तात्।
त्वामेव सम्यगुपलभ्य जयन्ति मृत्युं।
नान्यः शिवः शिवपदस्य मुनीन्द्र! पंथाः।

हे ऋषभदेव भगवान्! तुम्हें मुनिजन परम पुरुष मानते हैं। तुम सूर्य के समान तेजस्वी, मल-रहित और अज्ञान आदि अधकार से दूर हो। तुम्हे

भली-भाँति जान लेने पर ही मृत्यु पर विजय पाई जा सकती है। हे मुनीन्द्र! मुक्ति प्राप्त करने का और कोई सरल मार्ग नही है।

उपर्युक्त दोनो उद्धरणो के शब्द और भाव देखने से सहज ही यह निष्कर्ष निकलता है कि दोनो स्तुतियाँ एक ही व्यक्ति को लक्षित करके की गई हैं।

वेदो मे ऋषभदेव, सुपार्श्व, अरिष्टनेमि, महावीर आदि तीर्थंकरो का उल्लेख किया गया है। इसकी पुष्टि राष्ट्रपति डा० एस० राधाकृष्णन्[1], डा० अलब्रेटवेवर[2], प्रो० विरुपाक्ष वाडियर[3], डा० विमलाचरण लाहा[4] प्रभृति विद्वज्जन भी करते हैं।

प्रो० विरुपाक्ष वाडियर वेदो मे जैन तीर्थंकरो के उल्लेखो का कारण उपस्थित करते हुए लिखते हैं : "प्रकृतिवादी मरीचि ऋषभदेव का पारिवारिक था। वेद उसके तत्त्वानुसार होने के कारण ही ऋग्वेद आदि ग्रथों की ख्याति उसी के ज्ञान द्वारा हुई है। फलत. मरीचि ऋषि के स्तोत्र वेद-पुराण आदि ग्रन्थो मे हैं और स्थान-स्थान पर जैन तीर्थंकरो का उल्लेख पाया जाता है। कोई ऐसा कारण नही कि हम वैदिक काल मे जैन धर्म का अस्तित्व न मानें।"[5]

मनुस्मृति और पुराणों में

अरसठ तीर्थों मे यात्रा करने से जो फल होता है, मनुस्मृति ने उतना फल आदिनाथ के स्मरण का माना है :

अष्टषष्ठिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्।
श्रीआदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत्॥

---

१. Indian Philosophy, VoL 1, p 287

२. Indian Antiquary, VoL 3, p. 901

३ जैनपथ प्रदर्शक [आगरा] भा० ३, अ० ३, पृ० १०६

४ Historical Gleanings, p. 78

५. अजैन विद्वानो की सम्मतिया, पृ० ३१

मार्कण्डेय[1] पुराण, कूर्म[2] पुराण, वायु[3] पुराण, अग्नि[4] पुराण, ब्रह्माण्ड[5]

१. अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विज· ।
ऋषभात् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः ॥
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थित ।
तपस्तेपे महाभाग. पुलहाश्रमसंश्रयः ॥

—मार्कण्डेय पुराण, अ० ५०

२. हिमाह्वय तु यद्वर्षं नाभेरासीन्महात्मन
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मेरुदेव्या महाद्युति· ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर. पुत्रः शताग्रज ।
सोऽभिषिच्यर्षभ पुत्रं भरतं पृथिवीपति. ॥

—कूर्म पुराण, अ० ४१

३. नाभिस्त्वजनयत्पुत्र मरुदेव्या महाद्युतिः ।
ऋषभ पार्थिवश्रेष्ठ सर्वक्षत्रस्य पूर्वजम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर पुत्रशताग्रज. ।
सोऽभिषिच्याथ भरत पुत्र प्राव्राज्यमास्थित. ॥

—वायु पुराण, पूर्वार्ध, अ० ३३

४. जरामृत्युभय नास्ति धर्माधर्मौ युगादिकम् ।
नाधर्मं मध्यमं तुल्या हिमादेशात्तु नाभित. ॥
ऋषभो मरुदेव्या च ऋषभाद् भरतोऽभवत् ।
ऋषभोदात्त श्रीपुत्रे शाल्यग्रामे हरिं गत· ॥

—अग्नि पुराण, अ० १०

५. नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्या महाद्युतिम् ।
ऋषभ पार्थिव श्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूर्वजनम् ॥
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीर. पुत्रशताग्रज. ।
सोऽभिषिच्यर्षभः पुत्र महाप्राव्राज्यमास्थित. ॥
हिमाह्वयंदक्षिणं वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधा. ।

—ब्रह्माण्ड पुराण, पूर्वार्ध, अनुषङ्गपाद, अ० १४

पुराण, वाराह[1] पुराण, लिंग[2] पुराण, विष्णु[3] पुराण, स्कन्ध[4] पुराण आदि में ऋषभदेव की स्तुति के साथ-ही-साथ उनके माता-पिता, पुत्र आदि के नाम तथा उनकी जीवन-घटनाएं भी सविस्तार वर्णित की गई हैं।

श्रीमद् भागवत पुराण

श्रीमद् भागवत पुराण में उनके सुविस्तृत जीवन-प्रसंग प्रस्तुत करते हुए ज्ञान की सात भूमिकाओं में से पदार्थाभावना और असंसक्ति की

---

१. नाभिर्मरुदेव्यां पुत्रमजनयत् ऋषभनामानं तस्य भरतः पुत्रश्च।

—वाराह पुराण, अ० ७४

२. नाभेर्निसर्गं वक्ष्यामि हिमाङ्केऽस्मिन्निबोधतः।
नाभिस्त्वजनयत् पुत्रं मरुदेव्या महामतिः॥
ऋषभं पार्थिवश्रेष्ठं सर्वक्षत्रस्य पूजितम्।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताग्रजः॥
सोऽभिषिच्याथ ऋषभो भरतं पुत्रवत्सलः।
ज्ञानं वैराग्यमाश्रित्य जित्वेन्द्रियमहोरगान्॥
सर्वात्मनात्मन्यास्थाप्य परमात्मानमीश्वरम्।
नग्नो जटो निराहारोऽचीरी ध्वान्तगतो हि सः॥
निराशस्त्यक्तसंदेहः शैवमाप परं पदम्।
हिमाद्रेर्दक्षिणं वर्षं भरताय न्यवेदयत्॥

—लिङ्गपुराण, अ० ४७

३. न ते स्वस्ति युगावस्था क्षेत्रेष्वष्टसु सर्वदा।
हिमाह्वयं तु वै वर्षं नाभेरासीन्महात्मनः॥
तस्यर्षभोऽभवत्पुत्रो मरुदेव्या महाद्युतिः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठः पुत्रशतस्य सः॥

—विष्णु पुराण, द्वितीयांश, अ० १

४. नाभेः पुत्रश्च ऋषभः ऋषभाद् भरतोऽभवत्।

—स्कन्ध पुराण, माहेश्वर खण्डके कौमारखण्ड, अ० ३७

भूमिकाओ के रूप में ऋषभदेव और भरत का जीवन-दर्शन विश्लेषित किया गया है। माता-पिता के नाम, सौ पुत्रो का उल्लेख, साधना के प्रकार, ऋषभदेव का पुत्रो को उपदेश, सामाजिक व धार्मिक नीतियो का प्रवर्तन व भरत की अनासक्ति आदि का वर्णन सविस्तार किया गया है।

श्रीमद् भागवत के प्रथम स्कन्ध, अध्याय ३ मे अवतारो का वर्णन करते हुए बताया गया है "राजा नाभि की पत्नी मेरुदेवा के गर्भ से ऋषभदेव के रूप में भगवान् ने आठवा अवतार ग्रहण किया। इस रूप मे उन्होने परमहसो का वह मार्ग दिखाया, जो सभी आश्रमवासियो के लिए वन्दनीय है।"[1]

द्वितीय स्कन्ध, अध्याय सात मे लीलावतारो का वर्णन करते हुए कहा गया है· "राजा नाभि की पत्नी सुदेवी के गर्भ से भगवान् ने ऋषभदेव के रूप मे जन्म लिया। इस अवतार मे समस्त आसक्तियो से रहित रह कर, अपनी इन्द्रियो और मन को अत्यन्त शान्त करने एव अपने स्वरूप मे स्थित होकर समदर्शी के रूप मे उन्होंने मूढ पुरुषो के वेष मे योग-साधना की। इस स्थिति को महर्षि लोग परमहंस-पद अथवा अवधूत-चर्या कहते हैं।"[2]

श्रीमद् भागवत के पचम स्कन्ध, अध्याय २ से १४ तक ऋषभदेव, भरत तथा बाद मे जड भरत का प्रस्तुत किया गया जीवन-वृत्त सक्षिप्त रूप मे यहा उद्धृत किया जा रहा है।

---

१. अष्टमे मेरुदेव्या तु नाभे र्जात उरुक्रम।
दर्शयन् वर्त्म धीराणा सर्वाश्रम नमस्कृतम्॥

—श्रीमद् भागवत, स्कन्ध १, अ० ३, श्लोक १३

२ नाभेरसावृषभ आस सुदेविसूनु,
र्यो वैचचार समदृग् जडयोगचर्याम्।
यत् पारमहस्यमृषय पदमामनन्ति,
स्वस्थ. प्रशान्तकरण परिमुक्तसङ्ग॥

—श्रीमद् भागवत, स्कन्ध २, अ० ७, श्लोक १०

आग्नीध्र द्वारा पुत्र-याचना

ब्रह्मा ने मनुष्य-सख्या बढ़ाने के लिए सर्व प्रथम स्वयभू मनु और सत्यरूपा को उत्पन्न किया। उनके प्रियव्रत नामक पुत्र हुआ। प्रियव्रत का पुत्र आग्नीध्र हुआ। पिता प्रियव्रत के तपस्या में सलग्न हो जाने के अनन्तर आग्नीध्र ने प्रजा का पुत्रवत् पालन आरम्भ कर दिया। एक वार वह सत्पुत्र की प्राप्ति के लिए पूजा की सामग्री एकत्रित कर मन्द-राचल की एक घाटी मे चला गया और वहाँ तपस्या मे लीन होकर ब्रह्मा की आराधना करने लगा। आदिदेव ब्रह्मा ने उसकी अभिलाषा जान ली, अतः अपनी सभा की गायिका पूर्वचित्ति नामक अप्सरा को उसके पास भेजा। आग्नीध्र के आश्रम के पास एक अति रमणीय उपवन था। वह अप्सरा उसमे विचरने लगी।

आग्नीध्र वडा प्रतिभाशाली व कुशल था। उसने पूर्वचित्ति अप्सरा को आकर्षित कर लिया। वह उसके साथ हजारो वर्ष रही। तदनन्तर आग्नीध्र के नाभि, किंपुरुष, हरिवर्ष, इलावृत्त, रम्यक्, हिरण्यमय, कुरु, भद्राश्व व केतुमाल नौ पुत्र हुए। पूर्वचित्ति उसके वाद आश्रम से ब्रह्मा की सभा मे चली गई। आग्नीध्र ने जम्बूद्वीप को नौ वर्ष (भूखण्डो) मे विभाजित किया और उन्हें एक-एक पुत्र को सौंप दिया। पिता के पर-लोक-गमन के वाद नाभि आदि नौ ही भाइयो ने मेरुदेवी, प्रतिरूपा, उग्र-दंष्ट्री, लता, रम्या, श्यामा, नारी, भद्रा व देववीति आदि कन्याओ के साथ विवाह किया।

पुत्र-प्राप्ति के लिए यजन

नाभि के भी आग्नीध्र आदि की तरह कोई सन्तान न हुई। उसने अपनी धर्म-पत्नी मेरुदेवी के साथ पुत्र-कामना से ऐकाग्रता पूर्वक भगवान् यज्ञ-पुरुष का यजन किया। यद्यपि भगवान् द्रव्य, देश, काल, मन्त्र, ऋत्विज, दक्षिणा और विधि, यज्ञ के इन साधनो से सहज मे ही प्राप्त नही होते, तथापि भक्तो पर तो उनकी कृपा होती ही है। जव राजा

नाभि ने श्रद्धापूर्वक विशुद्ध भाव से उनकी आराधना की, तो उनका चित्त अपने भक्त का अभीष्ट करने के लिए उत्सुक हो गया। वे साक्षात् रूप मे प्रकट हुए। ऋत्विज, सदस्य व यजमान आदि सभी उन्हें अपने बीच मे पाकर अत्यन्त आह्लादित हुए। सभी ने उनकी पूजा व स्तुति की। ऋत्विज बोले—पूज्यतम! आपने हमे सर्वश्रेष्ठ वर तो यह दे ही दिया कि आप राजर्षि नाभि की यज्ञशाला मे साक्षात् प्रकट हुए हैं। हम और क्या वर मागें ? किन्तु, एक प्रार्थना अवश्य है। यद्यपि उसे व्यक्त करने मे सकोच अनुभव होता है, तथापि आप साक्षात् द्रष्टा हैं; अतः हम अपने हृदय को आप से छुपा भी कैसे सकते हैं ? हमारे ये यजमान राजर्षि नाभि सन्तान को ही परम पुरुषार्थ मानकर आप ही के समान पुत्र पाने के लिए आपकी आराधना कर रहे हैं।

ब्रह्माजी ने कहा—"ऋषियो! आपने यह बडा ही दुर्लभ वर मागा है। मेरे समान तो मैं ही हूँ, इसलिए अद्वितीय हूँ। सन्तान के रूप मे किसे प्रेषित कर सकता हूँ ? यह असमजस मे डालने वाली बात है, तथापि ब्राह्मणो का वचन मिथ्या नही होना चाहिए, क्योकि द्विज कुल तो मेरा मुख है, अत मै स्वयं ही अपनी अश-कला से नाभि के यहाँ अवतार लूँगा।" महारानी मेरुदेवी के समक्ष राजर्षि नाभि से इस तरह वचनबद्ध होकर भगवान् अन्तर्धान हो गये।

कुछ समय बीता। महर्षियो द्वारा पूर्णत. प्रीणित करने पर स्वयं भगवान् नाभिराज को सन्तुष्ट करने के लिए तथा दिगम्बर संन्यासी, वातरशना श्रमण और ऊर्ध्वरेता मुनियो का धर्म प्रकट करने के लिए महारानी मेरुदेवी के गर्भ से शुद्ध सत्त्वमय विग्रह स प्रकट हुए[1]। नाभि-नन्दन का शरीर सुडौल व सुन्दर था। तेज, बल, ऐश्वर्य व पराक्रम

---

१. बर्हिषि तस्मिन्नेव विष्णुदत्त भगवान् परमर्षिभि प्रसादितो नाभे. प्रियचिकीर्षया तदवरोधायने मेरुदेव्या धर्मान् दर्शयितुकामो वातरश-नाना श्रमणानां ऋषीणां ऊर्ध्वमन्थिना शुक्लया तन्वावततार.।

आदि गुणो मे अनिर्वचनीय होने के कारण उनका नाम ऋषभ (श्रेष्ठ) रखा गया। वे जन्म से ही भगवान् विष्णु के वज्र, अकुश आदि चिह्नो से युक्त होने तथा समता, शान्ति, वैराग्य और ऐश्वर्य आदि महाविभूतियो के कारण उनका प्रभाव प्रतिदिन बढ़ता ही गया।

एक बार इन्द्र ने ईर्ष्यावश उनके राज्य मे वर्षा नही की। योगेश्वर भगवान् ऋषभ ने इन्द्र की मूर्खता पर हसते हुए अपनी योगमाया के प्रभाव से अपने अजनाभखण्ड भूभाग मे खूब जल बरसाया। इन्द्र को भी लज्जित होना पडा।

ऋषभदेव का राज्याभिषेक

महाराज नाभि अपनी इच्छा के अनुरूप श्रेष्ठ पुत्र पाकर अत्यन्त आनन्द-मग्न हो गये। वे लोकमत का बहुत सम्मान करते थे। जब उन्होने देखा कि जनता और मन्त्रि-परिषद् के सदस्य ऋषभदेव का बहुमान करते हैं, उनसे बड़ा प्रेम करते हैं, तो उन्होने उन्हें धर्म-मर्यादा की रक्षा के लिए राज्याभिषिक्त कर ब्राह्मणो की देख-रेख मे छोड दिया। स्वयं अपनी पत्नी मेरुदेवी के साथ बदरिकाश्रम चले गये। वहाँ उन्होने अहिंसा-वृत्ति से कठोर तपस्या की और समाधि योग के द्वारा भगवान् वासुदेव के नर-नारायण रूप की आराधना करते हुए समय आने पर उन्ही के स्वरूप मे लीन हो गये।

भगवान् ऋषभदेव ने अपने देश अजनाभ खण्ड को कर्म भूमि मानकर लोक सग्रह के लिए कुछ काल गुरुकुल मे वास किया। गुरु को यथोचित दक्षिणा देकर गृहस्थ मे प्रवेश करने के लिए उनसे आज्ञा प्राप्त की। जनता को गृहस्थ धर्म की शिक्षा देने के निमित्त देवराज इन्द्र की कन्या जयन्ती से विवाह किया तथा श्रौत-स्मार्त्त, दोनो प्रकार के शास्त्रोपदिष्ट कर्मों का आचरण करते हुए, उसके गर्भ से अपने ही समान सौ पुत्र उत्पन्न किये। उनमे महायोगी भरत सबसे बडे और सबसे अधिक गुणवान् थे। उन्ही के नाम से यह अजनाभखण्ड भारतवर्ष कहलाया। उनसे

छोटे कुशावर्त, इलावर्त, ब्रह्मावर्त, मलय, केतु, भद्रसेन, इन्द्रस्पृक्, विदर्भ और कीकट, ये नौ राजकुमार अन्य नब्बे भाइयो मे बडे और श्रेष्ठ थे। उनसे छोटे कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रवुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन, ये नौ राजकुमार भागवत धर्म का प्रचार करने वाले वडे भगवद्-भक्त थे। इनसे छोटे जयन्तीकुमार आदि इक्यासी कुमार पिता की आज्ञा का पालन करनेवाले अतिविनीत, महान् वेदज्ञ और निरन्तर यज्ञ करनेवाले थे। वे पुण्य कर्मों का अनुष्ठान करके शुद्ध हो गये और ब्राह्मण वन गये।

भगवान् ऋषभदेव यद्यपि परम स्वतन्त्र होने के कारण स्वयं सर्वदा ही सब प्रकार की अनर्थ-परम्परा मे रहित, केवल आनन्दानुभव स्वरूप और साक्षात् ईश्वर ही थे, तो भी अज्ञानियो के समान कर्म करते हुए उन्होंने काल के अनुसार प्राप्त धर्म का आचरण करके उसका तत्त्व न जाननेवाले लोगो को उसकी शिक्षा दी। साथ ही सम, शान्त, सुहृद् और कारुणिक रहकर धर्म अर्थ, यश, सन्तान, भोग-सुख और मोक्ष का सग्रह करते हुए गृहस्थाश्रम मे लोगों को नियमित किया, क्योकि महापुरुष जैसा-जैसा आचरण करते हैं, दूसरे लोग भी उसी का अनुसरण करने लग जाते हैं। यद्यपि ये सभी धर्मों के साररूप वेद के गूढ रहस्य को जानते थे, तो भी ब्राह्मणो की वतलाई हुई विधि से साम-दान आदि नीति के अनुसार ही प्रजा का पालन करते थे। उन्होने शास्त्र और ब्राह्मणो के उपदेशानुसार भिन्न-भिन्न देवताओ के उद्देश्य से द्रव्य, देश, काल, आयु, श्रद्धा और ऋत्विज आदि से सुसम्पन्न सभी प्रकार के सौ-सौ यज्ञ किये।

पुत्रो को उपदेश

भगवान् ऋषभदेव के शासन-काल मे इस देश का कोई भी व्यक्ति प्रभु के प्रति प्रतिदिन वढते अनुराग के अतिरिक्त अपने लिए किसी से भी किसी वस्तु की इच्छा नही करता था। इससे भी वढकर आकाश-कुसुमादि अविद्यमान वस्तु की तरह कोई भी व्यक्ति किसी की वस्तु की ओर दृष्टि-

पात भी नही करता था। एक वार ऋषभदेव घूमते हुए ब्रह्मावर्त देश मे पहुँच गये। वहाँ वडे-वडे ब्रह्मर्षियो की सभा मे उन्होने प्रजा के सामने ही अपने समाहित चित्त, विनय और प्रेम के भार से सुसयत पुत्रो को सुविस्तृत शिक्षा दी। उसमे उन्होने वासनामय जीवन व अन्तःकरण की विशुद्धि पर विशेष वल दिया। स्त्री और पुरुष के पारस्परिक दाम्पत्य भाव को दुर्भेद्य ग्रन्थि वतलाया और अहकार का परित्याग कर परम पद को प्राप्त करने पर वल दिया। आगे उन्होने कहा—मेरा यह मानव शरीर सर्वथा अचिन्तनीय है और स्वेच्छा मे ग्रहण किया हुआ है। जिसमे धर्म की स्थिति है, वह शुद्ध सत्त्व ही मेरा हृदय है। अधर्म को मैंने दूर पीठ की ओर कर रखा है। इसी से साधुजन मुझे ऋषभ (श्रेष्ठ) कहते है। तुम सव मेरे उस शुद्ध सत्त्वमय हृदय से उत्पन्न हुए हो, इसीलिए मत्सर छोड कर अपने वडे भाई भरत की सेवा करो। उसकी सेवा करना मेरी ही सेवा करना है और यही तुम्हारा प्रजा-पालन भी है।

साधना की शिक्षा

यद्यपि सभी पुत्र सभी प्रकार से सुशिक्षित थे, पर, जनता को शिक्षा देने के उद्देश्य से महाप्रभावशाली परम सुहृद भगवान् ऋषभदेव ने इस प्रकार उपदेश दिया था। सौ पुत्रो मे भरत सवसे वडे व भगवद्-भक्तो के पारायण थे। शासन-सूत्र के सचालन मे उन्हे सर्वथा योग्य समझ कर भगवान् ने उन्हें पदासीन कर दिया। स्वय उपशमशील निवृत्ति परायण महामुनियो को भक्ति, ज्ञान और वैराग्य रूप परमहसोचित धर्म की शिक्षा देने के लिए पूर्णतः विरक्त हो गये। उन्होने केवल शरीर मात्र का ही परिग्रह रखा। सव कुछ घर पर ही छोड दिया। वस्त्रो का परित्याग कर सर्वथा दिगम्वर हो गये। उस समय उनके वाल विखरे हुए थे। उन्मुक्त का-सा वेप था। इस स्थिति मे वे आहवनीय (अग्निहोत्र की) अग्नियो को अपने मे ही लीन करके सन्यासी हो गये और ब्रह्मावर्त्त देश मे वाहर निकल

गये। वे सर्वथा मौन हो गये थे। कोई बात करना भी चाहता, तो वे उससे बोलते नहीं थे। जड, अन्धे, गूँगे, बहरे, पिशाच और पागल के समान चेष्टा करते हुए, वे अवधूत बने जहाँ तहाँ विचरने लगे। कभी नगरो व गाँवो मे चले जाते, तो कभी खानो व किसानो की बस्तियों, बगीचो, पहाडी गाँवो, सेना की छावनियो, गोशालाओ, अहीरो की बस्तियो और यात्रियो के ठहरने के स्थानो मे रहते। कभी पहाड़ो, जगलो व आश्रमो मे विचरते। वे किसी भी मार्ग से निकलते तो मूर्ख व दुष्ट लोग पीछे हो जाते और उन्हे तग करते। कोई धमकी देता, कोई ढेला मारता, कोई धूलि फेंकता, कोई थूक देता तो कुछ व्यक्ति इतनी अधमता कर बैठते कि उन पर मल, मूत्र आदि भी फेंक देते। बुरा-भला कह कर तो तिरस्कार करनेवाले सैकडो ही थे। इतना होने पर भी वे इन बातो पर जरा भी ध्यान नही देते। इसका कारण यह था कि भ्रम से सत्य कहे जानेवाले इस मिथ्या शरीर मे उनकी तनिक भी अहं व ममता नहीं थी। उनके हाथ, पाँव, छाती, लम्बी लम्बी बाँहें, कन्धे, गरदन और मुख आदि अंगों की बनावट बडी भव्य और मनोरम थी। प्रत्येक अंग से सुकुमारता छलकती थी, पर, उनके मुख के आगे भूरे रग की लम्बी घुंघुराली लटें लटकी रहती थी। उनके महान् भार व अवधूतो के समान धूलिधू-सरित देह के कारण वे भूतबाधाग्रस्त व्यक्ति के समान ही जान पडते थे।

बीभत्सवृत्ति

जनता द्वारा अपनी साधना मे नाना प्रकार के विघ्न उपस्थित किये जाने के कारण भगवान् ऋषभदेव ने बीभत्सवृत्ति धारण करना उचित समझा। वे अजगरवृत्ति से रहने लगे। वे लेटे-लेटे ही खाने-पीने व चबाने लगे तथा मल-मूत्र आदि का त्याग करने लगे। वे अपने त्यागे हुए मल मे लोट-लोटकर शरीर को उससे सान लेते थे, किन्तु, उनके मल मे दुर्गन्ध नही थी। वही सुगन्ध थी। हवा उस सुगन्ध को लेकर उनके चारो ओर दस योजन तक सारे देश को सुगन्धित कर देती थी। इसी प्रकार

गौ, मृग और काकादि की वृत्तियो को स्वीकार कर वे उनके ही समान कभी चलते हुए, कभी खडे-खडे, कभी बैठे हुए और कभी लेटे-लेटे ही खाने-पीने व मल-मूत्र का त्याग करने लगे। इस प्रकार परमहंसों को शिक्षा देने के लिए उन्होने कई प्रकार की योग-चर्याओ का आचरण किया। वे निरन्तर सर्वश्रेष्ठ महान् आनन्द का अनुभव करते रहते थे। उनकी दृष्टि मे निरुपाधिक रूप से सम्पूर्ण प्राणियो की आत्मा मे किसी प्रकार का अन्तर नहीं था। उनके सभी पुरुषार्थ पूर्ण हो चुके थे। उनके पास आकाश-गमन, मनोजवित्व (मन की गति के समान ही शरीर का भी इच्छा करते ही सर्वत्र पहुँच जाना), अन्तर्धान, परकाय-प्रवेश (दूसरे के शरीर मे प्रवेश करना), दूर की बातें सुन लेना और दूर के दृश्य देख लेना आदि सब प्रकार की सिद्धियाँ अपने आप ही सेवा करने को आईं, किन्तु, उन्होने उनको मन से भी स्वीकार नही किया।

देह-त्याग

भगवान् ऋषभदेव यद्यपि इन्द्रादि सभी लोकपालो के भी भूषण-स्वरूप थे, फिर भी वे जड पुरुषो की भाँति, अवधूतो के समान विविध वेष, भाषा और आचरणो से अपने आपको छुपाये रहते थे। अन्त मे उन्होंने योगियो को देह-त्याग की विधि सिखाने के लिए अपना शरीर छोडना चाहा। वे अपने अन्त.करण मे अभेदरूप से स्थित परमात्मा को अभिन्न रूप से देखते हुए वासनाओ की अनुवृत्ति से छूटकर लिंग-देह के अभिमान से मुक्त हो गये। इस प्रकार उनका शरीर योग माया की वासना से केवल अभिमानाभास के आश्रय ही पृथ्वी तल पर विचरता रहा। दैववश वह कोंक, वेंक और कुटक आदि दाक्षिणात्य कर्णाटक देशो मे गया और मुँह मे पत्थर का टुकडा डाले तथा बाल बिखेरे उन्मत्त के समान दिगम्बर रूप से कुटकाचल के वन मे घूमने लगा। इसी समय वायु-वेग से झूमते हुए बाँसो की रगड से प्रबल दावाग्नि प्रकट हुई। उसने उस वन को जलाते हुए उसी के साथ भगवान् ऋषभदेव के शरीर को भी भस्म कर दिया।

राजा अर्हत्

जिस समय कलियुग मे अधर्म की वृद्धि होगी, उस समय कोंक, वेंक और कुटक देश का मन्दमति राजा अर्हत् वहाँ के लोगो से ऋषभदेव के आश्रमातीत आचरण का वृत्तान्त सुनकर तथा स्वयं उसे ग्रहण कर, लोगो के पूर्व संचित पाप फल रूप होनहार के वशीभूत होकर, भय-रहित होकर, वैदिक मार्ग को छोड़कर अपनी वुद्धि से अनुचित और पाखण्ड-पूर्ण कुमार्ग का प्रचार करेगा। उससे कलियुग मे देवमाया से मोहित अनेक अधम मनुष्य अपने शास्त्र-विहित शौच और आचार को छोड बैठेंगे। अधर्म-वहुल कलियुग के प्रभाव से वुद्धि-हीन हो जाने के कारण वे स्नान न करना, आचमन न करना, अशुद्ध रहना, केश नुचवाना आदि ईश्वर के तिरस्कार करने वाले पाखण्ड धर्मों को मनमाने ढग से स्वीकार करेंगे और प्रायः वेद, व्राह्मण एव भगवान् यज्ञपुरुष की निन्दा करने लगेंगे। वे अपनी इस अवैदिक स्वेच्छाकृत प्रकृति मे अन्ध परम्परा से विश्वास करके मस्त रहने के कारण स्वयं ही घोर नरक मे गिरेंगे।

भरत द्वारा राज्य-ग्रहण

भरत ने ऋषभदेव के आदेश से जव शासन-सूत्र सम्भाला, तो पचजनी के साथ विवाह किया। उससे सुमति, राष्ट्रभृत्, सुदर्शन, आवरण और धूमकेतु नामक पाँच पुत्र हुए। वे भी अपने पिता के समान ही थे। महाराज भरत सभी विषयो के ज्ञाता थे। वे अपने-अपने कर्मों मे लगी हुई प्रजा को अपने वाप-दादो के समान स्वधर्मस्थित रहते हुए अत्यन्त वात्सल्य भाव से पालन करते थे। वे होता, अध्वर्यु, उद्गाता और व्रह्मा, इन चार ऋत्विजो द्वारा कराये जाने वाले प्रकृति और विकृति, दोनो प्रकार के अग्निहोत्र, दर्श, पूर्णमास, चातुर्मास्य, पशु और सोम आदि छोटे-वडे क्रतुओं से यथासमय श्रद्धापूर्वक यज्ञ और क्रतुरूप भगवान् का यजन करते थे। उस यज्ञकर्म से होने वाले पुण्यरूप फल को यज्ञपुरुष भगवान् को अर्पित कर देते थे। इस प्रकार यज्ञानुष्ठान, भगवद्-भक्ति तथा ईश-चिन्तन मे ही वे अपना अधिकाश समय व्यतीत करते।

पुलहाश्रम में

एक करोड़ वर्ष बीत जाने के बाद राज्य-भोग का प्रारब्ध क्षीण हुआ समझ कर वंश-परम्परागत अपनी सम्पत्ति को पुत्रो मे बाँट दिया और राजमहलों को छोडकर पुलहाश्रम (हरिहर क्षेत्र) मे चले गये। इस आश्रम मे रहने वाले भक्तो पर भगवान् का बड़ा ही वात्सल्य रहता है। यहाँ वे उनसे उनके इष्टरूप मे मिलते रहते हैं। यही पर वह सुप्रसिद्ध चक्र नदी (गण्डकी) सब ओर से ऋषियो के आश्रम को पवित्र करती रहती है।

पुलहाश्रम के उपवन मे भरत अकेले ही रहते और अनेक प्रकार के पत्र-पुष्प, तुलसीदल, जल और कन्द-मूल, फलादि उपहारो से भगवान् की आराधना करते रहते। इस उपासना से उनका अन्त करण समस्त विषयाभिलापाओ से निवृत्त होकर शान्त हो गया और उन्हे परम पद प्राप्त हो गया। प्रेम का वेग बढता गया, आनन्द के प्रबल प्रवाह से शरीर मे रोमाच होने लगा और उत्कण्ठा के कारण नेत्रो मे प्रेम के आँसू उमड़ आये जिससे उनकी दृष्टि रुक गयी। वे प्रतिक्षण भगवत्सेवा मे ही तत्पर रहते थे। शरीर पर कृष्ण मृगचर्म धारण करते थे तथा त्रिकाल स्नान के कारण भीगते रहने से उनके केश भूरी-भूरी घुंघराली लटो मे परिणत हो गये, जिनसे वे बडे ही सुहावने लगते थे।

मृग का मोह

एक बार भरत गण्डकी मे स्नान कर नित्य-नैमित्तिक तथा शौचादि आवश्यक कार्यों से निवृत्त होकर प्रणव का जाप करते हुए तीन मुहूर्त तक नदी की धारा के पास ही बैठे रहे। इसी समय प्यास से व्याकुल एक मृगी जल पीने के लिए वहा आई। आनन्द से पानी पीना आरम्भ किया। अचानक एक सिंह का भयानक शब्द सुनाई दिया। हिरन स्वभावतः ही डरपोक होते हैं और संयोगवश यदि ऐसा शब्द सुनाई पड़ जाये, तो उनके प्राणो पर ही आ बनती है। मृगी का 'कलेजा धडकने

लगा और कातर भाव से इधर-उधर झाकने लगी। उसकी प्यास शान्त भी न हो पाई थी कि उस शब्द से और भीत होकर प्राण बचाने का उपक्रम करने लगी। उसे अन्य कोई मार्ग दिखाई नही दिया। उसने नदी के उस पार जाने के लिए एक छलाग भरी। वह गर्भवती थी। भय से अकुला रही थी व एक ही छलाग भरने से असमय ही उसका गर्भ-पात हो गया। मृगी नदी के उस पार तो पहुच गई, किन्तु, वह मृग-शावक बीच जल-धारा मे ही गिर पडा। वह मृगी अपने यूथ से बिछुड गई थी। शारीरिक वेदना, भय व अमर्यादित छलाग भरने से वह अत्यन्त व्यथित हो गई थी। किसी भी तरह वह एक गुफा मे पहुँची और मरण-धर्म को प्राप्त हो गई।

राजर्षि भरत ने यह सारी घटना देखी। उनका हृदय करुणा से भर आया। उन्होंने उस शावक को जल-धारा से बाहर निकाला, उसकी परिचर्या की और उसे अपना आत्मीय समझकर अपने आश्रम मे ले आये। भरत के एकाकीपन का साथी एक वह मृग-छौना भी हो गया। भरत की उसके प्रति ममता उत्तरोत्तर बढ़ती ही गई। वे प्रतिदिन उसके खाने-पीने का प्रबन्ध करने व्याघ्रादि हिंस्र पशुओ से उसे बचाने, लाड-लड़ाने व पुचकारने आदि की चिन्ता में ही डूबे रहने लगे। उनके यम, नियम और भगवत्पूजा आदि आवश्यक कृत्य एक-एक कर छूटते गये और अन्त मे सभी छूट गये। उन्हें ऐसा विचार रहने लगा कि कितने खेद की बात है कि कालचक्र के वेग ने इस मृग-छौने को अपने दल, सुहृद् और बन्धुओ से दूर कर मेरी शरण में पहुँचा दिया है। यह मुझे ही अपना माता-पिता, साथी-संगी आदि सब कुछ मानता है। मेरे अतिरिक्त इसे और किसी का पता भी नहीं है। मेरे मे ही इसका अटूट विश्वास है। मुझे इस शरणागत की उपेक्षा नही करनी चाहिए; क्योकि इसके दोषो से भी मैं पूर्णतः परिचित हूँ। अब मुझे अपने इस आश्रित का सब प्रकार की दोष-बुद्धि को छोड़कर लालन-पालन, पोषण व रक्षण करना चाहिए।

मृग-छौने मे भरत की आसक्ति वढ गई और वे उसके स्नेह-पाश मे पूरी तरह से आवद्ध हो गये। यहा तक कि उठते-बैठते, चलते-फिरते, सोते और भोजन करते समय भी उनके सिर पर उसी का भूत सवार रहने लगा। जव उन्हे कुश, पुष्प, समिधा, पत्र और फल-फूलादि लाने होते तो भेड़ियों व कुत्तो के भय से उसे वे साथ लेकर ही वन मे जाते। मार्ग मे जहाँ-तहाँ कोमल घास आदि को देखकर मुग्ध भाव से वह हिरण-शावक अटक जाता, तो वे अत्यन्त प्रेमपूर्ण हृदय से दयावश उसे अपने कन्धो पर चढ़ा लेते। इसी प्रकार कभी गोद मे लेकर और कभी छाती से लगाकर दुलार करने मे भी उन्हें बड़ा सुख मिलता। नित्य-नैमित्तिक कर्मों को करते समय भी वे वीच-वीच मे उठ-उठकर उस मृग-बालक को देखते और जब उस पर उनकी दृष्टि पड़ती, तभी उनके चित्त को शान्ति मिलती। उस समय उसके लिए मगल-कामना करते हुए वे कहने लगते—'बेटा! तेरा सर्वत्र कल्याण हो।'

कभी यदि वह दिखाई न देता, तो वे धन लुटे हुये दीन मनुष्य के समान अत्यन्त दु खी हो जाते। उसके विरह से व्याकुल और सन्तप्त होकर करुणावश अत्यन्त उत्कण्ठित एवं मोहाविष्ट हो जाते तथा वडे ही उदार होकर इस प्रकार कहने लगते—क्या वह मातृहीन मृग-छौना मेरे जैसे पुण्यहीन व अनार्य का विश्वास कर और मुझे अपना मानकर, मेरे द्वारा किये गये अपराधो को सत्पुरुषो की तरह भूलकर लौट आयेगा? क्या मैं इस आश्रम मे निर्विघ्न रूप से हरी-हरी दूब को चरते हुए उसे देखूँगा? ऐसा न हो जाये कि कोई भेड़िया, कुत्ता, सूअर अथवा व्याघ्र आदि उसे चटकर जाये। सूर्य भगवान् अस्त होने को जा रहे हैं और अभी तक मृगी की वह धरोहर लौटकर नही आई। क्या वह हिरण राज-कुमार मुझ पुण्यहीन के पास आकर अपनी विभिन्न प्रकार की मृगशाव-कोचित मनोहर एव दर्शनीय क्रीड़ाओ से अपने स्वजनो का शोक दूर करते हुए मुझे आनन्दित करेगा? प्रणय-कोप से जव कभी मैं खेल मे झूठ-मूठ समाधि के वहाने आँख मूद कर वैठ जाता, तो वह चकित चित्त से मेरे

पास आकर जल-विन्दु के समान अपने कोमल और नन्हे-नन्हे सीगो से किस प्रकार मेरे अंगो को खुजलाने लगता था ? मैं कभी कुशो पर हवन-सामग्री रख देता और वह उन्हे अपने दांतो से खींच कर अपवित्र कर देता, तो मेरे डाँटने-डपटने पर अत्यन्त भयभीत होकर उसी समय सारी उछल कूद छोड देता व ऋषिकुमार की तरह अपनी समस्त इन्द्रियो को रोककर चुपचाप बैठ जाता।

पृथ्वी पर उस मृग-शावक के खुर के चिह्न देखकर वे कहने लगते—इस भाग्यवती धरती माता ने कौन-सा तप किया है, जो उस अतिविनीत मृग-शावक के छोटे-छोटे सुन्दर, सुखकारी और सुकोमल खुरो की पंक्ति से मुझे, जो अपना मृग-धन लुट जाने से अत्यन्त व्याकुल और दीन हो रहा हूँ, उस द्रव्य की प्राप्ति का मार्ग दीखा रही है और स्वय अपने शरीर को भी सर्वत्र उन चरण-चिन्हो से विभूषित कर स्वर्ग और अपवर्ग के इच्छुक द्विजो के लिए यज्ञ-स्थल बना रही है। यदि उनकी दृष्टि चन्द्रमा मे रही मृग-तुल्य कालिमा पर पडती, तो उसे अपना ही मृग समझकर वे कह उठते—जिसकी माता सिह के भय से मर गई थी, आज वही मृग-शिशु अपने आश्रम से बिछुड़ गया है। उसे अनाथ देखकर दीनवत्सल नक्षत्रनाथ दयावश क्या उसकी रक्षा कर रहे हैं ? इस प्रकार तरह-तरह के अपार मनोरथो से भरत का चित्त व्याकुल रहने लगा। अपने प्रारब्ध कर्म के कारण वे तपस्वी भगवदाराधन रूप कर्म एव योग्यानुष्ठान से च्युत हो गये। वस्तुतः उनका प्रारब्ध ही मृग-शिशु का रूप धारण करके आया था; अन्यथा जिन्होने मोक्षमार्ग मे साक्षात् विघ्न-रूप समझकर अपने ही दुस्त्यज पुत्रादि के परिवार को त्याग दिया था, उन्हीं की अन्य जातीय हिरण-शिशु मे आसक्ति कैसे हो सकती थी ? राजर्षि भरत इस प्रकार विघ्नों से पराभूत होकर योग-साधना से भ्रष्ट हो गये। उस मृग-छौने के लालन-पालन और लाड़-प्यार मे ही काल सन्निकट आ गया। वह मृग-छौना उनके पास बैठा था और वे उसकी ओर झांक रहे थे। उनकी आसक्ति मे कोई अल्पता नहीं थी; अतः उसी अवस्था मे

उन्होंने शरीर छोड़ा और अन्त-काल की भावना के अनुसार साधारण जीवो की भान्ति कालञ्जर पर्वत की कन्दराओ मे उन्हे मृग-शरीर ही मिला। उनके पूर्व जन्म व उससे सम्वन्धित घटनाओ को जाना तथा मृग-शरीर पाने के कारण उनका हृदय पश्चात्ताप से भर गया। उन्हे अपनी उत्कृष्ट साधना व तपश्चर्या का एक मृग-छौने की आसक्ति के कारण इस तरह विफल हो जाना वहुत खटका। सबसे अधिक अनुताप तो उन्हे इस वात का हो रहा था कि परिवार, राज्य व सम्पत्ति का त्याग कर शालिग्राम-जैसी पवित्र ऋषि-भूमि के पुलहाश्रम मे मैंने अपना जीवन विताया और एक मृग-छौने ने उसे सर्वथा भ्रष्ट कर दिया। अपनी भावना को अपने अन्तर्मन मे ही छुपाये माता मृगी का त्याग कर व कालञ्जर पर्वत की कन्दराओ से निकलकर शालिग्राम की उसी पवित्र ऋषि-भूमि मे पहुँचा और पुलस्त्य और पुलह ऋषि के आश्रमो के आस-पास विचरने लगा। आसक्ति से उसे वड़ा भय लगता था। अकेला रहता तथा सूखे घास, पत्ते, झाड़-झंखाड़ द्वारा अपना निर्वाह करता। क्रमश अपनी आयु को समाप्त कर अपने आधे शरीर को गण्डक नदी मे डुवोये रखकर मृग-योनि को त्याग दिया।

ब्राह्मण कुल मे जन्म

आङ्गिरस गोत्री एक विप्र थे। वे ब्राह्मणोचित शम, दम, तप, स्वाध्याय, वेदाध्ययन, त्याग, सन्तोष, तितिक्षा, विनय, आत्म-ज्ञान आदि सभी गुणो से सम्पन्न थे। उनके दो पत्नियां थी। वडी पत्नी से उनके नौ पुत्र हुए और छोटी पत्नी से युगलरूप मे एक पुत्र व एक पुत्री। दोनो में जो पुत्र था, वह मृग-शरीर को त्यागकर चरम देह से ब्राह्मणत्व को प्राप्त हुए राजर्षि-श्रेष्ठ भरत ही थे। इस जन्म में भी जन्म-परम्परा की उनकी स्मृति पूर्णतः वैसी ही थी, जैसी कि पहले थी, अत. वे निस्सग भाव से रहते। उन्हें यह आशंका प्रतिक्षण वनी रहती थी कि कही उनका मन किसी भी पदार्थ व पारिवारिक मे आसक्त न वन जाए। इससे वे

हरिकीर्तन, उपासना व पूजा मे ही अपना सारा समय लगाते। दूसरो की दृष्टि मे वे पागल, मूर्ख, अन्धे और बहरे के समान रहते थे।

पिता का उनमे वैसा ही स्नेह था। उन्होंने अपने पागल पुत्र के भी विवाह से पूर्ववर्ती सभी सस्कार करने के विचार से उनका उपनयन सस्कार किया। शौच, आचमन आदि आवश्यक कार्यों की शिक्षा दी। किन्तु, भरत अपने पिता के सामने ही उन शिक्षाओ का उल्लंघन करने लगे थे। पिता चाहते थे कि वर्षा काल मे उन्हे वेदाध्ययन आरम्भ करवा दिया जाये, किन्तु, वसन्त और ग्रीष्म ऋतु के चार महीनो तक पढ़ाते रहने पर भी वे उन्हें व्याहृति और शिरोमंत्र प्रणव के साथ त्रिपदा गायत्री भी अच्छी तरह नही पढा सके। फिर भी उनका पुत्र में आत्मा के समान ही अनुराग था। उसकी प्रवृत्ति न होने पर भी 'पुत्र को अच्छी तरह शिक्षा देनी चाहिए' इस अनुचित आग्रह से उन्हे शौच, वेदाध्ययन, व्रत, नियम तथा गुरु और अग्नि की सेवा आदि ब्रह्मचर्याश्रम के आवश्यक नियमो की शिक्षा देते ही रहे। संयोग की बात थी, पुत्र को सुशिक्षित देखने का उनका मनोरथ पूर्ण नही हो पाया। भगवद्-भजन रूप अपने मुख्य कर्तव्य से असावधान रह कर वे केवल घर के धन्धो मे ही व्यस्त रहते। अचानक काल आया और उन्हे प्रेत्यधाम का अतिथि बना दिया। उनकी छोटी पत्नी ने अपने दोनों बालको को सौत को सम्भला दिया और स्वय सती होकर परलोक को चली गई।

भरत के भाई तो कर्मकाण्ड को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे। वे ब्रह्मज्ञान रूप पराविद्या से सर्वथा अनभिज्ञ थे, अतः वे उनके प्रभाव से अपरिचित थे। वे उन्हें निरामूर्ख समझते थे। पिता के स्वर्ग-गमन के अनन्तर उन्होंने उन्हें पढाने-लिखाने का आग्रह छोड़ दिया। भरत को मानापमान का कोई भी विचार नही था। जब साधारण नर-पशु उन्हें पागल, अन्धा व बहरा कहकर पुकारते तो भाई भी उन्हें उसी तरह पुकारते। कोई उनसे कुछ काम कराना चाहता, तो वे उनकी इच्छा के अनुरूप कर देते। पारिश्रमिक के रूप मे मागने पर या न मागने पर जो भी थोडा-बहुत, अच्छा-बुरा

अन्न मिल जाता, अस्वाद-वृत्ति से उसे खा लेते। शीतोष्ण, मानापमान आदि द्वन्द्वो से होने वाले सुख-दु.खादि मे उन्हें देहाभिमान की स्फूर्ति नही होती थी। वे सर्दी, गर्मी, वर्षा व आधी के समय निर्वस्त्र ही भूमि पर पडे रहते। तेल-उबटन कभी नही करते और न कभी स्नान ही करते। इससे उनके शरीर पर मैल की तहे जम जाती। उनका ब्रह्मतेज धूलि से ढँके मणि के समान ढँक गया था। वे अपनी कमर पर एक मैला-कुचैला कपड़ा लपेटे रहते थे। उनका यज्ञोपवीत भी बहुत मैला हो गया था, इसलिए अज्ञानी जनता उन्हें 'अधम ब्राह्मण' कह कर तिरस्कृत करता, पर, वे इसका तनिक भी विचार न करते।

दूसरों की मजदूरी कर पेट पालते हुए उन्हे जब उनके भाइयो ने देखा, तो अच्छा नही लगा; अत उन्हें खेत की क्यारियाँ ठीक करने का काम सौंपा गया। परन्तु, उनका इसमे भी कोई ध्यान नही था। वे उन क्यारियो की अच्छी तरह देख-भाल भी नही कर पाते थे। उन्हें इतना भी ध्यान नहीं था कि क्यारियो की भूमि समतल होनी चाहिये या ऊँची-नीची, उन्हें सँवारने मे ऊबड़-खाबड मिटा देनी चाहिये या नही? उनके भाई भी उनका पूरा शोषण करते। वे उन्हें खाने के लिए चावलो की कनी, खल, भूसी, भुने हुए उडद अथवा बरतनो मे लगी हुई अनाज की खुरचन देते थे, जिसे अमृत के समान समझकर वे खा लेते थे।

भद्रकाली द्वारा भरत की रक्षा

एक बार डाकुओ के एक सरदार ने, जिसके पास शूद्र जाति के ही सामन्त थे, पुत्र-कामना से भद्रकाली की उपासना आरम्भ की। उसके लिए एक पशु की बलि आवश्यक थी। उसने एक पुरुष को बलात् पकड कर मँगवा लिया, किन्तु, मौका पाकर वह उन बन्धनो को तोड़कर भाग निकला। उसके सामन्त उस व्यक्ति की खोज मे निकले, किन्तु, अन्धेरी रात मे आधी रात का समय होने के कारण उस पुरुष का कही पर भी पता न लग सका। आंगिरस गोत्रीय वह ब्राह्मण मेंड़ पर वीरासन से

बैठा हुआ मृग, वाराहादि से अपने खेत की रखवाली कर रहा था। उन लुटेरो को वह कुमार कुछ विलक्षण प्रतीत हुआ; अतः उसे लाये और अपने सरदार के समक्ष उपस्थित कर दिया। सभी चोरो ने उन्हे विधि-पूर्वक स्नान कराया, वस्त्र पहनाये तथा नाना आभूषण, चन्दन, तिलक, माला आदि से विभूषित किया। धूप, दीप, माला, खील, पत्ते, अंकुर, फल और नैवेद्य आदि सामग्री के साथ बलिदान की विधि से गान, स्तुति, मृदग, ढोल आदि का महान् शब्द करते हुए उन्हें भद्रकाली के सामने सिर झुका कर बैठा दिया। दस्युराज के लुटेरे पुरोहित ने उनके रुधिर से देवी को तृप्त करने के निमित्त दैवी मन्त्रो से अभिमंत्रित एक तेज तलवार उठाई।

चोर स्वभाव से रजोगुणी और तमोगुणी तो थे ही, धन के मद मे उनका चित्त और उन्मत्त हो गया। हिंसा मे भी उनकी स्वाभाविक रुचि थी। ब्राह्मण कुल को तिरस्कृत कर स्वच्छन्दता से कुमार्ग की ओर बढ़ रहे थे। आपत्ति-काल मे भी अवध्य साक्षात् ब्रह्मभाव को प्राप्त वैरहीन तथा समस्त प्राणियों के सुहृद् इस ब्रह्मर्षि कुमार की वे बलि देना चाहते थे। इस भयंकर कुकर्म को देखकर देवी भद्रकाली के शरीर मे दु सह ब्रह्म तेज से दाह होने लगा और वे यकायक मूर्ति को फोड़कर प्रकट हो गईं। वे अत्यन्त असहनशील प्रतीत होती थी। उनकी भौंहे क्रोध के कारण चढी हुई थी। कराल दाढे और चढी हुई लाल आंखो के कारण उनका चेहरा बड़ा ही भयानक जान पड़ता था। उनके विकराल स्वरूप को देखकर ऐसा जान पड़ता था कि वे इसी क्षण सृष्टि का प्रलय कर देंगी। उन्होंने भीषण अट्टहास किया और उछलकर उस अभिमन्त्रित खड्ग से ही उन सारे पापियो के सिर उड़ा-दिये। अपने गणो के साथ वे मृत व्यक्तियो के गले से बहते हुए गरम-गरम रुधिर-रूप आसव को पीने लगीं और अति उत्तम भाव व उच्च स्वर से गाती हुई तथा नाचती हुईं उन सिरो को गेंद बनाकर खेलने लगी।

भरत और राजा रहूगण

सिन्धुसौवीर देश का स्वामी राजा रहूगण एक वार शिविका मे वैठ कर कही जा रहा था। जव वह इक्षुमती नदी के तट पर पहुँचा, तो उसकी शिविका को उठाकर ले चलने के लिए एक कहार की और आवश्यकता पड़ी। जंगल मे वहाँ उन्हें और कौन मिलता ? ब्राह्मण के चोले मे भरत की वह आत्मा उन्हें दिखलाई दी। सोचा गया—यह तो वडा हृष्ट-पुष्ट जवान व गठोले अगो वाला है। वैल व गधे के समान वजन ढो सकता है। उन्हे वलपूर्वक पकडा और शिविका मे जोत दिया। यद्यपि भरत इस कार्य के योग्य तो नहीं थे, तथापि बिना कुछ वोले ही शिविका को उठा कर चलने लगे। पैरो के नीचे आकर किसी भी प्राणी की हिंसा न हो जाए, इसलिए आगे की एक वाण भूमि देख-देखकर चलने लगे। इस प्रकार अन्य कहारो की गति के साथ उनका मेल नही वैठा। पालकी टेढी होने लगी। राजा रहूगण को क्रोध आ गया। उसने कहारो को डाँटा और सीधे चलने के लिए कहा। कहार घवराये। उन्होने राजा से निवेदन किया—राजन्! हम तो आपके आदेशानुसार ठीक-ठीक ही चल रहे हैं, किन्तु, यह नया कहार जो अभी-अभी पालकी मे लगाया गया है, कदम मिलाकर अच्छी तरह नहीं चलता। इस एक की वजह से ही आपको कष्ट हो रहा है।

ससर्ग से उत्पन्न होने वाला दोष यदि प्रतिकार न किया जाए, तो दूसरे व्यक्तियो मे भी विस्तार पा जाता है। एक कहार की त्रुटि से धीरे-धीरे दूसरे कहार प्रभावित न हो, इसके लिए उसके प्रति व्यग कसते हुए राजा ने कहा—दु:ख की वात है कि अवश्य ही तू वहुत थक गया होगा ! मालूम होता है, तेरे इन साथियो ने तुझे तनिक भी साथ नही दिया है ! इतनी दूर से व वड़ी दूर से तू अकेला ही इसे ढोता चला आ रहा है ! तेरा शरीर भी तो कोई खास मोटा-ताजा व हट्टा-कट्टा नही है ! वुढ़ापे ने भी तुझे दवा लिया है !

राजा के इतने ताने मारने पर भी भरत ने कुछ भी बुरा न माना; क्योंकि उनकी दृष्टि मे तो पंचभूत, इन्द्रिय और अन्त'करण का संघात यह अपना चरम देह अविद्या का ही कार्य था। वह विविध अगो से दिखाई देने पर भी वस्तुत. था ही नही, इसलिए उसमे उनका मैं—मेरेपन का अभ्यास सर्वथा निवृत्त हो गया था और वे ब्रह्मरूप हो गये थे। शिविका उठाये चल रहे थे। राजा के इतना कहने पर भी उनकी गति मे कोई अन्तर नही आया। शिविका उसी तरह से टेढ़ी-मेढ़ी व ऊँची-नीची हो रही थी। राजा रहूगण यह देखकर आगवबूला हो गया। ललकार की भाषा मे वह बोल पड़ा--यह क्या ? क्या तू जीते ही मर गया है ? जानता नही, मैं तेरा मालिक हूँ ? मेरा निरादर कर मेरी ही आज्ञा का इस प्रकार उल्लघन कर रहा है ? मालूम होता है, तू पूरा पागल है। मैं दण्डपाणि यमराज के समान प्रजा का शासन करने वाला हूँ। ठहर, अभी तेरा इलाज किये देता हूँ।

राजा रहूगण को उत्तर

ब्राह्मण देवता अपनी शान्त व निर्वेद भाषा मे बोले—राजन् ! जो कुछ तुम कह रहे हो, ठीक ही है। मैं इसे उलाहना या ताना नही मानता। वीरवर ! यदि कोई भार है तो उस ढोने वाले शरीर को ही है और यदि कोई मार्ग-श्रम है, तो वह भी उसमे चलने वाले शरीर के लिए ही है। मेरा शरीर से कोई सम्बन्ध नही, इसलिए मुझे न तो भार ढोने का क्लेश है और न मार्ग चलने का श्रम ही है। राजन् ! तुम्हारा यह कथन भी ठीक ही है कि तुम विशेष मोटे-ताजे नही हो। मोटापन-दुबलापन तो इस पचभूतो के शरीर मे ही है। इसलिए समझदारो का इस विषय मे कोई विवाद नही है। स्थूलता, कृशता, आधि, व्याधि, भूख, प्यास, भय, कलह, इच्छा, बुढापा, निद्रा, प्रेम, क्रोध, अभिमान और शोक, ये सब देहाभिमान को लेकर उत्पन्न होने वाले जीव मे रहते हैं। मेरे मे तो इनका लेश भी नही है। पृथ्वीपते ! मरने और जीने की

वात भी विकारी पदार्थों से ही सम्बन्धित है। उनमे ये दोनो बातें नियमित रूप से देखी जाती हैं; क्योकि वे सभी आदि-अन्त वाले हैं। नरेश ! जहाँ स्वामी-सेवक भाव स्थिर हो, वही आज्ञा-पालन आदि का नियम भी लागू हो सकता है'। तुम्हारे और मेरे बीच मे तो यह सम्बन्ध स्थिर नही है। इसमे परिवर्तन भी हो सकता है। 'तुम राजा हो और मैं प्रजा हूँ' इस प्रकार की भेद-बुद्धि के लिए मुझे व्यवहार के अतिरिक्त और कही तनिक भी अवकाश दिखाई नही देता। परमार्थ-दृष्टि से किसे स्वामी कहा जाए और किसे सेवक ? फिर भी राजन् ! यदि तुम्हे स्वामित्व का अभिमान है तो कहो, मैं तुम्हारी क्या सेवा करूँ ? राजन् ! मैं तो मत्त, उन्मत्त और जड़ के समान अपनी ही स्थिति मे रहता हूँ। मेरा इलाज करने से तुम्हे क्या हाथ लगेगा ? यदि मैं वास्तव मे जड़ और प्रमादी ही हूँ, तो भी मुझे शिक्षा देना पिसे हुए को पीसने के समान ही व्यर्थ होगा। मार-पीट कर भी तुम मुझे चालाक तो नही बना सकोगे ?

भरत यथार्थ तत्त्व का उपदेश करते हुए इतना उत्तर देकर मौन हो गये। उनका देहात्मबुद्धि का हेतुभूत अज्ञान निवृत्त हो चुका था, इसलिए वे परम शान्त हो गये। पहले की ही भान्ति शिविका को कन्धे पर उठाये चलने लगे। सिन्धुसौवीर नरेश रहूगण भी अपनी उत्तम श्रद्धा के कारण तत्त्व-जिज्ञासा का पूरा अधिकारी था। जब उसने उनके अनेक योग-ग्रथो से समर्थित और हृदय की ग्रन्थि का छेद करने वाले ये वाक्य सुने, तो वह उसी समय शिविका से उतर पड़ा। उसका राजमद सर्वथा दूर हो गया और वह उनके चरणों में सिर रख कर अपने अपराध के लिए क्षमा मांगते हुए कहने लगा—'देव ! आपने द्विजो का चिन्ह यज्ञोपवीत धारण कर रखा है, बतलाइए, इस प्रकार से प्रच्छन्न रूप मे विचरने वाले आप कौन हैं ? क्या आप दत्तात्रेय आदि अवधूतो मे से कोई हैं ? आप किसके पुत्र हैं ? आपका कहाँ जन्म हुआ और यहाँ आपका पदार्पण कैसे हुआ ? यदि आप हमारा कल्याण करने के लिए पधारे हैं तो क्या आप साक्षात् सत्त्वमूर्ति भगवान् कपिल ही तो नहीं हैं ? मुझे इन्द्र के वज्र,

महादेव के त्रिशूल, यमराज के दण्ड और अग्नि, सूर्य, चन्द्र, वायु और कुबेर के आयुधो का भी कोई भय नहीं है, किन्तु, ब्रह्मकुल का अपमान होने से मैं बहुत डरता हूँ। कृपया, बताने का कष्ट करें कि इस प्रकार अपने विज्ञान और शक्ति को छुपा कर पागलो की तरह विचरने वाले आप कौन हैं ? विषयो से तो आप सर्वथा अनासक्त जान पडते हैं। मुझे आपकी कोई थाह नहीं मिल रही है। साधो ! आपके योगयुक्त वाक्यों की बुद्धि द्वारा आलोचना करने पर भी मेरा स्नेह दूर नही होता। मैं तो आत्मज्ञानी योगेश्वर भगवान् कपिल से यह पूछने जा रहा था कि इस लोक मे एकमात्र शरण लेने योग्य कौन हैं ? क्या आप ही वे कपिल मुनि नही हैं, जो लोगो की दशा देखने के लिए अपना रूप छुपाकर विचर रहे हैं ? घर मे आसक्त रहने वाला विवेकहीन पुरुष योगेश्वर की गति कैसे जान सकता है ?

राजा रहूगण ने भरत का परिचय पाने के अनन्तर उसके द्वारा प्रतिपाद्य विषय मे कुछ शकाएँ की और उनका समाधान मांगा। भरत से क्षमा मागते हुए उसने कहा—राजत्व के अभिमान से उन्मत्त होकर आप जैसे श्रेष्ठ-साधु की मैंने अवज्ञा की है। अब आप ऐसी कृपा-दृष्टि करें, जिससे इस साधु-अवज्ञारूप अपराध से मुक्त हो जाऊँ।

भरत ने रहूगण के प्रश्नो का समाधान किया, भवाटवी का सविस्तार वर्णन किया और अत्यन्त करुणावश आत्म-तत्त्व का उपदेश दिया।

भरत का माहात्म्य

भरत का माहात्म्य बताते हुए वहा आगे कहा गया है—जिस प्रकार गरुड़ की होड कोई मक्खी नही कर सकती, उसी प्रकार ऋषभ-पुत्र राजर्षि भरत के मार्ग का कोई और राजा मन से भी अनुसरण नहीं कर सकता। उन्होंने पुण्यकीर्ति श्रीहरि मे अनुरक्त होकर अति मनोरम स्त्री, पुत्र, मित्र और राज्यादि को युवावस्था मे ही विष्ठा के समान समझ कर त्याग दिया था। उन्होंने अपना मृग-शरीर छोड़ते समय उच्च स्वर से कहा

था—'धर्म की रक्षा करने वाले, धर्मानुष्ठान मे निपुण, योगगम्य, सांख्य के प्रतिपाद्य, प्रकृति के अधीश्वर, यज्ञमूर्ति, सर्वान्तर्यामी श्रीहरि को नमस्कार है।' जिनकी ऐसी आलौकिक भक्ति थी, उन भरत को बरावरी कौन कर सकता है ?

प्राचीन इतिहास

श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ११, अध्याय २ से ४ तक का प्रकरण भी उपरोक्त विवेचन की पुष्टि करता है। शुकदेव राजा परीक्षित को सम्वोधित करते हुए कहते हैं: "देवर्षि नारद अधिकाशतः द्वारका मे ही रहते थे। एक दिन वे वसुदेव के यहाँ पहुँच गये। वसुदेव ने उनका अभि-वादन किया, विधिवत् पूजा की और जन्म-मृत्यु रूप इस भयावह ससार से अनायास ही पार होने के निमित्त उपदेश की प्रार्थना की।

देवर्षि नारद ने वसुदेव के कथन का अनुमोदन किया और उसके उत्तर मे कहा : "राजन् ! तुमने जो माग की है, उसके सम्वन्ध मे सत पुरुष ऋषभदेव के पुत्र नौ योगीश्वरो और महात्मा विदेह राज के शुभ संवाद के रूप में एक प्राचीन इतिहास सुनाया करते हैं। तुम जानते ही हो कि स्वायम्भुव[1] मनु के प्रियव्रत नामक एक प्रसिद्ध पुत्र थे। प्रियव्रत के आग्नीध्र, आग्नीध्र के नाभि और नाभि के पुत्र ऋषभदेव हुए। वे भगवान् वसुदेव के अश थे। मोक्ष धर्म का उपदेश करने के लिए उन्होंने

---

१. प्रियव्रतो नाम सुतो मनो स्वायंभुवस्य य ।
तस्याग्नीध्रस्ततो नाभि ऋषभस्तत्सुत स्मृतः ॥
तमाहुर्वासुदेवाश मोक्षधर्मविवक्षया ।
अवतीर्णं सुतशत तस्यासोद् ब्रह्मपारगम् ॥
तेषा वै भरतो ज्येष्ठो नारायणपरायण ।
विख्यातं वर्षमेतद्यन्नाम्ना भारतमद्भुतम् ॥

—श्रीमद् भागवत, स्कध ११, अध्याय २

अवतार ग्रहण किया था। उनके सौ पुत्र थे और सभी वेदो के पारदर्शी विद्वान् थे। उनमे सबसे बडे राजर्षि भरत थे। वे भगवान् नारायण के परम प्रेमी भक्त थे। उन्ही के नाम से यह भूमि-खण्ड, जो 'अजनाभवर्ष' कहलाता था, 'भारतवर्ष' कहलाया। यह भारतवर्ष भी एक अलौकिक स्थान है। राजर्षि भरत ने सारी पृथ्वी का राज्य-भोग किया। परन्तु, अन्त मे इसे छोड़कर वन में चले गये। वहाँ उन्होंने तपस्या के द्वारा भगवान् की उपासना की और तीसरे जन्म मे वे भगवान् को प्राप्त हुए। भगवान् ऋषभदेव के शेष निन्यानवे पुत्रो मे नौ पुत्र तो इस भारत के सब ओर स्थित नौ द्वीपो के अधिपति हुए और इक्यासी पुत्र कर्मकाण्ड के रचयिता ब्राह्मण हो गये तथा शेष नौ संन्यासी हो गये। जो सब कुछ छोड़कर संन्यासी हो गये, वे तो बडे ही भाग्यवान् थे। उन्होने आत्म-विद्या के सम्पादन मे बड़ा परिश्रम किया था और वास्तव मे उसमे बढे निपुण थे। वे प्रायः दिगम्बर ही रहते थे और अधिकारियो को परमार्थ वस्तु का उपदेश किया करते थे। उनके नाम थे—कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्पलायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन। वे इस कार्य-कारण और व्यक्त-अव्यक्त भगवद्रूप जगत् को अपनी आत्मा से अभिन्न अनुभव करते हुए पृथ्वी पर स्वच्छन्द विचरण करते थे। उनके लिए कही भी रोक-टोक न थी। वे जहाँ चाहते, चले जाते। देवता, सिद्ध, साध्य, गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य, किन्नर और नागो के लोको मे तथा मुनि, चारण, ब्राह्मण और गौओ के स्थानो मे वे स्वच्छन्द विचरते थे। वे सभी जीवन्मुक्त थे।

एक बार की बात है। इस अजनाभ (भारत) वर्ष मे विदेहराज महात्मा निमि बडे-बडे ऋषियो के द्वारा एक महान् यज्ञ करा रहे थे। उपर्युक्त नौ योगीश्वर स्वच्छन्द विचरण करते हुए उनके यज्ञ मे जा पहुँचे। वे योगीश्वर भगवान् के परम प्रेमी भक्त और सूर्य के समान तेजस्वी थे। उन्हें देखकर राजा निमि, आहवनीय आदि मूर्तिमान् अग्नि और ऋत्विज आदि ब्राह्मण सभी उनके स्वागत मे खडे हो गये। विदेहराज निमि ने

उन्हें भगवान् के प्रेमी भक्त जानकर यथायोग्य आसनो पर बैठाया और प्रेम तथा आनन्द से भरकर विधि पूर्वक उनकी पूजा की। वे नौ ही योगीश्वर अपने अगो की कान्ति से इस प्रकार चमक रहे थे, मानो साक्षात् ब्रह्मा के पुत्र सनकादि मुनीश्वर ही हो।

विदेहराज निमि ने उन नौ योगीश्वरो से नाना प्रश्न किये और प्रत्येक प्रश्न का एक-एक योगीश्वर ने क्रमशः उत्तर दिया। राजा निमि ने सातवाँ प्रश्न किया : "योगीश्वरो ! भगवान् स्वतन्त्रता से अपने भक्तो के वश मे होकर अनेक प्रकार के अवतार ग्रहण करते हैं और अनेक लीलायें करते हैं। आप लोग कृपा करके भगवान् को उन लीलाओ का वर्णन कीजिए, जो वे अब तक कर चुके हैं, कर रहे हैं या करेंगे।"

सातवें योगीश्वर द्रुमिल ने सविस्तार उत्तर देते हुए कहा "भगवान् विष्णु ने अपने स्वरूप मे एकरस स्थित रहते हुए भी सम्पूर्ण जगत् के कल्याण के लिए बहुत से कलावतार ग्रहण किये है। विदेहराज ! हस, दत्तात्रेय, सनक-सनन्दन-सनातन-सनत्कुमार और हमारे पिता[1] ऋषभ के रूप मे अवतीर्ण होकर उन्होंने आत्म-साक्षात्कार के साधनो का उपदेश किया है। उन्होंने ही हयग्रीव अवतार लेकर मधु-कैटभ का सहार कर उन लोगों के द्वारा चुराये हुए वेदो का उद्धार किया है। प्रलय के समय मत्स्यावतार लेकर उन्होने भावी मनु सत्यव्रत, पृथ्वी औषधियो की— धान्यादि की रक्षा की और वराहावतार ग्रहण करके पृथ्वी का रसातल से उद्धार करते समय हिरण्याक्ष का सहार किया। कुर्मावतार ग्रहण करके उन्हीं भगवान् ने अमृत-मन्थन का कार्य सम्पन्न करने के लिए अपनी पीठ पर मन्दराचल धारण किया और उन्ही भगवान् विष्णु ने अपने शरणागत एव आर्त्त भक्त गजेन्द्र को ग्राह से छुडाया। एक बार वालखिल्य ऋषि

---

१ हसस्वरूपप्यवददच्युत आत्मयोगः ।
दत्त कुमार ऋषभो भगवान् पिता न ॥
—श्रीमद् भागवत, स्कन्ध ११, अ० ४, श्लोक १७

तपस्या करते-करते अत्यन्त दुर्बल हो गये थे। वे जब कश्यप ऋषि के लिए समिधा ला रहे थे, तो थक कर गाय के खुर से बने हुए गड्ढे मे गिर पडे। मानो समुद्र मे गिर गये हो। उन्होने जब स्तुति की, तब भगवान् ने अवतार लेकर उनका उद्धार किया। वृत्रासुर को मारने के कारण जब इन्द्र को ब्रह्म-हत्या लगी और उसके भय से भागकर छिप गये, तब भगवान् ने उस हत्या से इन्द्र की रक्षा की और जब असुरो ने अनाथ देवांगनाओ को बन्दी बना लिया, तब भी भगवान् ने ही उन्हे असुरो के चगुल से छुडाया। जब हिरण्यकशिपु के कारण प्रह्लाद आदि संत पुरुषो को भय पहुँचने लगा, तब उनको निर्भय करने के लिए भगवान् ने नरसिंहावतार ग्रहण किया और हिरण्यकशिपु को मार डाला। उन्होने देवताओ की रक्षा के लिए देवासुर-संग्राम मे दैत्यपतियो का वध किया और विभिन्न मन्वन्तरो मे अपनी शक्ति से अनेको कलावतार धारण करके त्रिभुवन की रक्षा की। फिर वामन-अवतार ग्रहण करके उन्होने याचना के बहाने पृथ्वी को दैत्यराज बलि से छीन लिया और देवताओ को दे दिया। परशुराम-अवतार ग्रहण करके उन्होने ही पृथ्वी को इक्कीस बार क्षत्रिय-हीन किया। परशुराम तो हैहयवश का प्रलय करने के लिए मानो भृगुवश मे अग्निरूप से ही अवतीर्ण हुए थे। उन्ही भगवान् ने रामावतार मे समुद्र पर पुल बान्धा एव रावण और उसकी राजधानी लका को मटियामेट कर दिया। उनकी कीर्ति समस्त लोको के मल को नष्ट करने वाली है। भगवान् राम सदा सर्वत्र विजयी ही विजयी हैं। राजन्! अजन्मा होने पर भी पृथ्वी का भार उतारने के लिए वे भगवान् यदुवश मे जन्म लेंगे और ऐसे-ऐसे कर्म करेंगे, जिन्हे बडे-बडे देवता भी नही कर सकते। फिर आगे चलकर भगवान् बुद्ध के रूप मे प्रकट होकर यज्ञ के अधिकारियो को अनेक प्रकार के तर्क वितर्कों से मोहित कर लेंगे और कलियुग के अन्त मे कल्कि अवतार लेकर वे ही शूद्र राजाओ का वध करेंगे।

श्रीमद् भागवत मे वर्णित भगवान् ऋषभदेव और भरत-सम्बन्धी जीवन-प्रसंग अन्य पुराणो मे भी विवेचित हैं। विष्णु पुराण, अश २

अध्याय १ मे भगवान् ऋषभदेव की वश-परम्परा का सविस्तार उल्लेख है। अंश २ अध्याय ११ से १६ तक भरत का जीवन-वृत्त प्रस्तुत किया गया है। इनके अतिरिक्त वायु पुराण अग्नि पुराण, गरुड पुराण, मार्कण्डेय पुराण, ब्रह्माण्ड पुराण, वाराह पुराण, शिव पुराण, कूर्म पुराण, लिंग पुराण आदि में भी भगवान् ऋषभदेव व चक्रवर्ती भरत के उल्लेख तथा जीवन-वृत्त पाये जाते हैं।

महाभारत मे ऋषभदेव और उनके पुत्र भरत का प्रसग कही नही आया है, क्योकि इसमे दुष्यन्त-पुत्र भरत की वश-परम्पराओ का ही विशेषत विवेचन किया गया है। फिर भी ऋषभ[1], नाभि[2], आदि[3], आदिकर, सर्वग[4], सर्वज्ञ[5] आदि शब्दो का यत्र-तत्र प्रयोग किया गया है। यह शब्द-प्रयोग वहाँ शिव के विशेषण के रूप मे हुआ है, जो विशेषतः अनुसन्धेय है।

ज्ञान की सात भूमिकाएं

योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति-प्रकरण, सर्ग ११८ मे ज्ञान की सात भूमिकाओ का विशद विवेचन किया गया है। पाचवी व छठी भूमिका का सम्बन्ध

---

१ ऋषभस्त्व पवित्राणा योगिना निश्कल. शिव.।

—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ३१८

२. नाभिर्नन्दिकरो भाव पुष्कर स्थपति स्थिरः।

—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ९३

३. सर्वकर्मा स्वयभूत आदिरादिकरो निधि।

—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ३७

४. विभाग सर्वगो मुख.।

महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ५९

५ सुवर्णरेताः सर्वज्ञः सुबीजो बीजवाहन.।

—महाभारत, अनुशासनपर्व, अ० १७, श्लोक ४०

जड भरत व ऋषभदेव से है। सातो भूमिकाओ[1] के नाम १ शुभेच्छा, २. विचारणा, ३ तनुमानसा, ४. सत्त्वापत्ति, ५ असंसक्ति, ६ पदार्था-भावना और ७ तुर्यगा है।

मैं मूढ होकर ही क्यो स्थित रहूँ, मैं शास्त्रो और सत्पुरुषो द्वारा जानकर तत्त्व का साक्षात्कार करूँगा, इस प्रकार वैराग्यपूर्वक केवल मोक्ष की इच्छा होने को ज्ञानी जनो ने 'शुभेच्छा'[2] कहा है।

शास्त्रों के अध्ययन, मनन और सत्सग के सग तथा विवेक-वैराग्य के अभ्यासपूर्वक सदाचार में प्रवृत्त होने को 'विचारणा'[3] कहा है।

शुभेच्छा और विचारणा के द्वारा इन्द्रियो के विषय-भोगो में आसक्ति का अभाव होना और अनासक्त हो ससार मे विचरण करने को 'तनु-मानसा'[4] कहा है। इस भूमिका मे मन शुद्ध होकर सूक्ष्मता को प्राप्त हो जाता है, अत इसे 'तनुमानसा' कहा गया है।

---

१. ज्ञानभूमि. शुभेच्छाख्या प्रथमा समुदाहृता।
विचारणा द्वितीया तु तृतीया तनुमानसा॥
सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी स्यात् ततोऽससक्तिनामिका।
पदार्थाभावना षष्ठी सप्तमी तुर्यगा स्मृता॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ५-६

२. स्थितः किं मूढ एवास्मि प्रेक्ष्येऽहं शास्त्रसज्जनै।
वैराग्यपूर्वमिच्छेति शुभेच्छेत्युच्यते बुधै.॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ८

३. शास्त्रसज्जनसम्पर्कवैराग्याभ्यासपूर्वकम्।
सदाचारप्रवृत्तिर्या प्रोच्यते सा विचारणा॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११८। ९

४. विचारणाशुभेच्छाभ्यामिन्द्रियार्थेष्वसक्तता।
यात्रा सा तनुताभावात् प्रोच्यते तनुमानसा॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११७। १०

उपरोक्त तीनो भूमिकाओ के अभ्यास से चित्त के सासारिक विषयों से अत्यन्त विरक्त हो जाने के अनन्तर उसके प्रभाव से आत्मा का शुद्ध तथा सत्य स्वरूप परमात्मा मे तद्रूप हो जाना 'सत्वापत्ति'[1] है।

चारो भूमिकाओ के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक अभ्यास से चित्त के बाह्याभ्यन्तर सभी विषय-सस्कारो से अत्यन्त असंग —सम्बन्ध-विच्छेद हो जाने पर अन्त करण का समाधि मे आरूढ़--स्थित हो जाना 'अससक्ति'[2] है।

पूर्व पाचो भूमिकाओ के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक अभ्यास से उस ज्ञानी महात्मा की आत्मारामता के प्रभाव से उसके अन्त करण में ससार के पदार्थों का अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है, जिससे उसे बाहर-भीतर के किसी भी पदार्थ का स्वय भान नही होता, दूसरों के द्वारा प्रयत्न-पूर्वक चिरकाल तक प्रेरणा करने पर ही कभी किसी पदार्थ का भान होता है, अत उसके अन्त करण की 'पदार्थाभावना'[3] हो जाती है।

पूर्व सभी भूमिकाओ के सिद्ध हो जाने पर स्वाभाविक चिरकाल तक अभ्यास होने से जिस अवस्था मे दूसरो के द्वारा प्रयत्नपूर्वक प्रेरित करने

---

१ भूमिकात्रितयाभ्यासाच्चित्तेऽर्थे विरतेर्वशात् ।
सत्यात्मनि स्थिति शुद्धे सत्त्वापत्तिरुदाहृता ॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११७ । ११

२. दशाचतुष्टयाभ्यासादसंसगफलेन च ।
रूढसत्त्वचमत्कारात् प्रोक्ता ससक्तिनामिका ॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११८ । १२

३. भूमिकापञ्चकाभ्यासात् स्वात्मारामतया दृढम् ।
आभ्यन्तराणा बाह्यानां पदार्थानामभावनात् ॥
परप्रयुक्तेन चिर प्रयत्नेनार्थभावनात् ।
पदार्थाभावनानाम्नी षष्ठी संजायते गति ॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११८ । १३-१४

पर भी भेदरूप संसार की सत्ता-स्फूर्ति की उपलब्धि नहीं होती, किन्तु, अपने आत्माभाव मे स्वाभाविक निष्ठा रहती है, उस स्थिति को उसके अन्त.करण की 'तुर्यगा'[1] भूमिका कहा गया है।

ऋषभदेव छठी पदार्थाभावना और जड भरत असंसक्ति नामक पांचवी भावना मे स्थित हैं, ऐसा माना गया है। असंसक्ति भूमिका का विश्लेषण करते हुए कहा गया है : "परम वैराग्य और परम उपरति के कारण उस ब्रह्म-प्राप्त ज्ञानी महात्मा का इस ससार और शरीर से अत्यन्त सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है। ऐसे पुरुष का संसार से कोई भी प्रयोजन नही रहता, अत. वह कर्म करने या न करने के लिए बाध्य नही है। गीता[2] मे कहा गया है।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

उस महापुरुष का इस विश्व मे न तो कर्म करने से कोई प्रयोजन रहता है और न कर्मों के न करने से ही कोई प्रयोजन रहता है तथा सम्पूर्ण प्राणियो से भी इनका किंचिन्मात्र भी स्वार्थ का सम्बन्ध नही रहता।

फिर भी इस ज्ञानी महात्मा पुरुष के सम्पूर्ण कर्म शास्त्र-सम्मत और कामना एवं संकल्प से शून्य होते हैं। इस प्रकार जिसके समस्त कर्म ज्ञानरूप अग्नि के द्वारा भस्म हो गये हैं, उस महापुरुष को ज्ञानीजन भी पण्डित कहते हैं।

---

१. भूमिषट्कचिराभ्यासाद् भेदस्यानुपलम्भत ।
यत्स्वभावैकनिष्ठत्व सा ज्ञेया तुर्यगा गतः ॥
—योगवाशिष्ठ, उत्पत्ति० ११८ । १५

२. अध्याय ३, श्लो० १८

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिता ।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः ॥[1]

अत ऐसे पुरुष को उसके सम्मान के लिए 'ब्रह्मविद्वर' कहा जा सकता है। ऐसा महापुरुष जब समाधि-अवस्था मे रहता है, तब तो उसे सुषुप्ति अवस्था की भान्ति ससार का बिल्कुल मान नही रहता और व्युत्थान-अवस्था मे—व्यवहार-काल मे उसके द्वारा पूर्व के अभ्यास से सत्ता, आसक्ति, कामना, सकल्प और कर्तृत्वाभिमान के बिना ही सारे कर्म होते रहते हैं। उसकी कभी समाधि-अवस्था रहती है और कभी व्युत्थानावस्था। उसकी किसी दूसरे के प्रयत्न बिना स्वत ही व्युत्थानावस्था होती है। किन्तु, वास्तव मे ससार के अभाव का निश्चय होने के कारण उसकी व्युत्थानावस्था भी समाधि के तुल्य ही होती है, इस कारण उसकी इस अवस्था को 'सुपुप्ति-अवस्था' भी कहते हैं।"[2]

पदार्थाभावना भूमिका का विश्लेषण करते हुए कहा गया है "असंसक्ति के पश्चात् जब वह ब्रह्म-प्राप्त पुरुष पदार्थाभावना मे प्रवेश करता है, तब उसकी नित्य समाधि रहती है, इसके कारण उसके द्वारा कोई भी क्रिया नही होती। उसके अन्त करण मे शरीर और संसार के सम्पूर्ण पदार्थों का अत्यन्त अभाव-सा हो जाता है। उसे संसार का और शरीर के बाहर-भीतर का बिल्कुल ज्ञान नही रहता, केवल श्वास आते-जाते हैं; इसलिए उस भूमि को 'पदार्थाभावना' कहते हैं। जैसे गाढ सुषुप्ति मे स्थित पुरुष को बाहर-भीतर के पदार्थों का ज्ञान बिल्कुल नही रहता, वैसे ही इनको भी ज्ञान नही रहता, अत उस पुरुष की इस अवस्था को 'गाढ़ सुषुप्ति अवस्था' भी कहा जा सकता है। किन्तु, गाढ सुषुप्ति मे स्थित पुरुष के तो मन-बुद्धि अज्ञान के कारण माया मे विलीन हो जाते हैं, अतः उसकी

---

१. अध्याय ४, श्लो० १६

२ ज्ञानयोग का तत्त्व, पृ० २०४-२०५

स्थिति तमोगुणमयी है; पर, इस ज्ञानी-पुरुष के तो मन-बुद्धि अज्ञान के कारण माया मे विलीन हो जाते हैं; अत. उसकी स्थिति तमोगुणमयी है; पर, इस ज्ञानी-पुरुष के मन-बुद्धि ब्रह्म मे तद्रूप हो जाते हैं; अत॰ इसकी अवस्था गुणातीत है। इसलिए यह गाढ सुषुप्ति से अत्यन्त विलक्षण है।

गाढ़ सुषुप्ति में स्थित पुरुष तो निद्रा-परिपाक हो जाने पर स्वतः ही जग जाता है; किन्तु, इस समाधिस्थ ज्ञानी महात्मा पुरुष की व्युत्थानावस्था तो दूसरों के बार-बार प्रयत्न करने पर ही होती है, अपने-आप नही। उस व्युत्थानावस्था मे वह जिज्ञासु के प्रश्न करने पर पूर्व के अभ्यास के कारण ब्रह्मविषयक तत्त्वरहस्य को बतला सकता है। इसी कारण ऐसे पुरुषो को 'ब्रह्म विद्वरीयान्' कहते हैं।"[1]

---

१. ज्ञानयोग का तत्त्व, पृ० ३०६-३०७

: ३ :

बौद्ध वाङ्मय में

बौद्ध साहित्य मे भगवान् महावीर के जीवन-प्रसग और निर्ग्रन्थ धर्म का उल्लेख तो बहुत स्थानो पर उपलब्ध होता है, पर, जैन और वैदिक साहित्य की तरह भगवान् ऋषभदेव व भरत के सविस्तार जीवन-प्रसग वहाँ उपलब्ध नही होते हैं। यत्र-तत्र भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख भगवान् महावीर तथा भरत के साथ कई स्थानो पर मिलता है। 'धम्मपद' मे कहा गया है :

उसभं पवरं वीरं महेसिं विजिताविनं।
अनेजं नहातक बुद्धं तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं ॥ ४२२

इस पद्य मे समागत उसभ (ऋषभ) और वीर शब्द प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव तथा चौवीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर के लिए ही प्रयुक्त ज्ञात होते हैं। यद्यपि इस पद्य के अर्थ मे कुछ विद्वानो का मतभेद है। वे इन्हें ऋषभदेव और भगवान् महावीर के लिए व्यवहृत नही मानते, किन्तु, कुछ विद्वानो ने इस मान्यता का खण्डन करते हुए उपरोक्त अभिमत की पुष्टि की है।[1]

'आर्यमंजुश्रीमूलकल्प' मे भारत के आदिकालीन राजाओं मे नाभिपुत्र ऋषभ और ऋषभ-पुत्र भरत का उल्लेख किया गया है :

प्रजापतेः सुतो नाभि तस्यापि आगमुच्यति।
नाभिनो ऋषभपुत्रो वै सिद्धकर्म दृढव्रतः ॥ ३९० ॥

---

१. इण्डियन हिस्टोरीकल, क्वाटर्ली, भा० ३, पृ० ४७३-४७५

तस्यापि मणिचरो यक्षः सिद्धो हैमवते गिरौ।
ऋषभस्य भरतः पुत्र सोऽपि मंजतान तदा जपेत्॥३९१॥

उस ग्रन्थ मे एक स्थान पर कपिल[१] के साथ भी उनका उल्लेख किया गया है।

नैयायिक धर्मकीर्ति ने सर्वज्ञ[२] के उदाहरण मे भगवान् ऋषभदेव और भगवान् महावीर का नामोल्लेख किया है।

आर्यदेव द्वारा रचित षट्शास्त्र मे भी भगवान् ऋषभदेव का उल्लेख किया गया है, किन्तु, उसकी मूल सस्कृत-प्रति प्राप्य नही है। इस ग्रन्थ का चीनी रूपान्तर मिलता है, जिसमे कपिल, उलूक आदि ऋषियो की मान्यता के साथ मिश्रितरूप से भगवान् ऋषभदेव की मान्यता का निरूपण किया गया है "कपिल, उलूक (कणाद), ऋषभ आदि ऋषिगण 'भगवत्' कहलाते हैं। ऋषभ के शिष्य-गण निर्ग्रन्थो के धर्म-ग्रन्थो का पाठ करते हैं। वे ऐसे कहते हैं ' 'तपस्या करो और केश-लुचन आदि क्रियाएँ करो, जो पुण्यमय हैं। साथ ही कुछ ऐसे शिक्षक हैं, जो उपवास और प्रायश्चित्त करते, अग्नि तपते, सदा खड़े रहते, मौन रखते, पर्वत-शिखर से गिरते अथवा ऐसी क्रियाएँ करते जो उन्हें गौ-सदृश बनाती थी। वे इन क्रियाओं को पुण्यशाली मानते हैं। वे उनको अति शुक्ल धर्म कहते हैं।'[३]

त्रिशास्त्र-सम्प्रदाय के सस्थापक श्री चि-त्सग ने उपरोक्त कथन पर विवेचन करते हुए चीनी भाषा मे लिखा है : "ऋषभ एक तपस्वी ऋषि

---

२ कपिल मुनिनाम ऋषिवरो, निर्ग्रन्थ तीर्थंकर ऋषभनिर्ग्रन्थ रूपि।
—आर्यमञ्जुश्रीमूलकल्प

३. य. सर्वज्ञ आप्तो वा स ज्योतिर्ज्ञानादिकमुपदिष्टवान्, तद्यथा ऋषभवर्धमानादिरिति। —न्यायबिन्दु

१. तैशोत्रिपिटिक, भा० ३३, पृ० १६८

हैं। उनका उपदेश है कि हमारे शरीर को सुख और दुःख का अनुभव करना होता है, दुःख जो हमारे पूर्व-सचित कर्मों का फल है, कदाचित् इस जीवन में तपस्या द्वारा समाप्त हो जाता है और सुख उसी समय प्रकट हो जाता है। उनके धर्म ग्रन्थ 'निर्ग्रन्थ सूत्र' के नाम से प्रसिद्ध हैं और उनमे हजारों कारिकायें हैं।"

श्री चि-त्संग ने उपाय हृदयशास्त्र मे भगवान् ऋषभदेव के सिद्धान्तो का भी विवेचन किया है। यद्यपि इनमे कुछ मौलिक त्रुटियाँ रह गई हैं, तथापि वे मननीय हैं। वहाँ बताया गया है : "उनके [ऋषभ के] मूल सिद्धात मे पाँच प्रकार का ज्ञान, छ आवरण (कर्म) और चार बुरे कषाय हैं। पाँच प्रकार का ज्ञान—१. श्रुत, २ मति, ३. केवल, ४ मन. पर्यव और ५ अवधि है। छः आवरण—१. दर्शनावरणी, २ वेदनीय, ३. मोहनीय, ४. आयुष्य, ५ गोत्र और ६ नाम है। चार कषाय—१ क्रोध, २. मान, ३ लोभ और ४. माया हैं। वे मानते हैं कि निमित्त (Cause) मे परिणाम (Effect) होते हैं और नही भी होते हैं। द्रव्य एक है और नही भी है। ये उनके मौलिक सिद्धात हैं। यही कारण है कि ऋषभ 'भगवत्' कहे जाते है।"[1]

षट् शास्त्र मे उल्लिखित कपिल, उलूक आदि ऋषियो के बारे मे अपना मन्तव्य व्यक्त करते हुए श्री चि-त्संग ने लिखा है : "उन सब ऋषियो के मत ऋषभदेव के धर्म की शाखायें हैं।"[2] आगे वे लिखते हैं "वे उपवास तो ऋषभ की भाँति करते थे। परन्तु, उनमे से कुछ दिन भर मे फल के तीन टुकडे लेते थे, अन्य पवन-भक्षण करते अथवा घास खाते थे। वे मौन धारण करते थे।"

---

२ A Commentary on the Sata Sastra, 1, 2., Taisho-tr Vol 42, P. 244.

२ These teachers are offshoots of the sect o Rṣisabha.

'स्वर्णसप्ततिटीका' मे भगवान् ऋषभ द्वारा निरूपित हेतुवाद (तर्क) का भी श्री चि-त्संग ने उल्लेख किया है।

श्री चि-त्संग ने तैशोत्रिपिटक में भगवान् श्री महावीर की मान्यताओ का भी उल्लेख किया है। उनमे छ आवरण मुख्य हैं, किन्तु, भगवान् ऋषभदेव के सिद्धान्तों मे विवेचित छ आवरणो मे और यहाँ विवेचित छ आवरणो मे कुछ अन्तर है। सम्भव है, सैद्धान्तिक मान्यताओ का विवेचन करते हुए कुछ असावधानी रह गई हो। वहाँ लिखा गया है : "१. दर्शनावरणीय, २ वेदनीय, ३. मोहनीय, ४ आयुष्य, ५ अन्तराय और ६ नाम, इनकी विपक्षी शक्तिया छ ऐश्वर्य हैं। वह वस्तु-विवेचना सर्वथा 'न सद्-रूप है, न असद्-रूप है' ऐसे करते हैं। वे मौन रहते हैं और ऐसे चारित्रिक नियमो का पालन करते हैं, जो उनको गौ-जैसा शान्त बना दे, जैसे कि वसुवन्धु के 'अभिधर्मकोष' मे बताया गया है। वे अपने नेत्र एक बिन्दु पर केन्द्रित रखते हैं, मस्तक झुकाये रखते है, घास-(शाक) भक्षण करते हैं और वे मानते हैं कि इस प्रकार वे गोवत् चर्या करते हैं।"[1]

---

१. भाग ४२, पृ० ४२७

: ४ :

इतिहास के सन्दर्भ में

जैन धर्म अनादि है। प्रत्येक काल-चक्रार्ध के उत्सर्पण और अवसर्पण मे चौवीस तीर्थंकर होते हैं, जो कालक्रम से अपवर्तन के चक्र मे फँसे हुए धर्म को उद्वर्तन देते हैं। उद्वर्तन और अपवर्तन की नाना प्रक्रियाओ को कुछ अनुसन्धाता ऐतिह्य तथ्यो के आधार पर परखने के अनन्तर जब कुछ तथ्य प्रकट करते हैं, तब वह केवल श्रद्धा-गम्य ही नही रह जाता, अपितु तर्क-गम्य भी हो जाता है। चौवीस तीर्थंकर श्रद्धा गम्य तो हैं ही, तेवीसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्वनाथ और चौवीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर की ऐतिहासिकता मे अब सन्देह नही रह गया है तथा बावीसवें तीर्थंकर भगवान् अरिष्टनेमि भी कुछ विद्वानो द्वारा ऐतिहासिक पुरुष माने जा चुके हैं। प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के समय तक इतिहास अभी नही पहुँच पाया है, फिर भी जहाँ तक वह पहुँचा है, भगवान् ऋषभदेव के बारे मे भी अच्छा प्रकाश पडता है।

मोहन-जो-दडो की खुदाई से प्राप्त होने वाली मुहरो मे कुछ पर एक ओर नग्न ध्यानस्थ योगी की आकृति है और दूसरी ओर वृषभ का चिह्न है। वृषभ भगवान् ऋषभदेव का लाछन था, अत. यह अनुमान सहज ही हो जाता है कि उस समय मे भी उनकी पूजनीयता प्रसिद्ध थी।

दो हजार वर्ष पूर्व राजा कनिष्क तथा हुविष्क आदि के शासन मे हुई खुदाई मे प्राप्त शिलालेख मथुरा के सग्रहालय की आज भी शोभा बढा रहे है। डा० फुहरर ने उन शिलालेखो से प्राचीन इतिवृत्त का अनुसन्धान

कर यह निर्णय दिया था कि प्राचीन समय मे जैनी ऋषभदेव की मूर्तियाँ बनाते थे।

श्री विंसेण्ट ए० स्मिथ का कहना है. "मथुरा से प्राप्त सामग्री लिखित जैन परम्परा के समर्थन मे विस्तृत प्रकाश डालती है और जैन धर्म की प्राचीनता के विषय मे अकाट्य प्रमाण उपस्थित करती है तथा यह बतलाती है कि प्राचीन समय मे भी वह अपने इसी रूप मे मौजूद था। ईस्वी सन् के प्रारम्भ मे भी अपने विशेष चिह्नों के साथ चौबीस तीर्थंकरो की मान्यता मे दृढ़ विश्वास था।"[1]

जर्मन के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० हर्मन जेकोबी,[2] जिन्होंने तीर्थंकरो की ऐतिहासिकता पर महत्वपूर्ण अनुसन्धान किया था, अपनी गवेषणा के

---

1. The discoveries have to a very large extent supplied corroboration to the written Jain tradition and they offer tangible incontrovertible proof of the antiquity of the Jain religion and of its early existence very much in its present form. The series of twentyfour pontiffs (Tirthankaras), each with his distinctive emblem, was evidently firmly believed in at the beginning of the christian era.

—The Jain stup—Mathura, Intro. p 6

2 There is nothing to prove that parshva was the founder of Jainism. Jain tradition is unanimous in making Rishabha the first Tirthankara (as its founder) there may be something historical in the tradition which makes him the first Tirthankara.

— Indian Antiquary, vol. IX P. 163

अनन्तर कहते हैं 'पार्श्वनाथ को जैन धर्म का प्रणेता या संस्थापक सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। जैन परम्परा प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव को जैन धर्म का संस्थापक मानने मे एकमत है। इस मान्यता मे ऐतिहासिक सत्य की सम्भावना है।"

श्री स्टीवेन्सन की गवेषणा डा० हर्मन जेकोबी के अभिमत की पुष्टि करती है। वे लिखते हैं "जब जैन और ब्राह्मण, दोनो ही ऋषभदेव को इस कल्प-काल मे जैन धर्म का संस्थापक मानते हैं तो इस मान्यता को अविश्वसनीय नही कहा जा सकता।"[१]

वरदाकान्त मुखोपाध्याय एम० ए० ने विभिन्न ग्रन्थो तथा शिलालेखो का अध्ययन करने के अनन्तर आत्म-विश्वास के साथ यह अभिमत प्रकट किया था "लोगो का यह भ्रमपूर्ण विश्वास है कि पार्श्वनाथ जैन धर्म के संस्थापक थे, किन्तु, इसका प्रथम प्रचार ऋषभदेव ने किया था। इसकी पुष्टि मे प्रमाणो का अभाव नही है।"[२]

कुछ विद्वानो व गवेषको ने तीर्थंकरो के बारे मे तो अपना अभिमत प्रकट नहीं किया है, पर, वे अपने अनुसन्धान के आधार पर जैन धर्म को सृष्टि का आदि धर्म, प्रागैतिहासिक धर्म, अतिप्राचीन धर्म तथा स्वतंत्र धर्म प्रमाणित करते हैं।

सन् १८१७ मे ईस्ट इंडिया कम्पनी ने सुप्रसिद्ध पादरी रेवरेण्ड एब्बे जे० ए० डुबाई द्वारा फ्रांसीसी भाषा मे लिखित पुस्तक का अंग्रेजी भाषा मे अनुवाद प्रकाशित किया था। जैन धर्म के बारे मे अपना अभिमत

---

1. It is so seldom that Jains and Brahmanas agree, that I do not see how we can refuse them credit in this instance, where they, do so
—Kalpa sutra, Intro, P XVI

२. जैन धर्म की प्राचीनता, पृ० ८

व्यक्त करते हुए वहाँ लिखा गया है : "निस्सन्देह जैन धर्म ही सारे संसार मे एक सच्चा धर्म है और यही समस्त मनुष्यो का आदि धर्म है।"[1]

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक जैन धर्म को अनादि मानते हुए लिखते हैं "ग्रन्थो तथा सामाजिक व्याख्यानो से जाना जाता है कि जैन धर्म अनादि है। यह विषय निर्विवाद तथा मतभेद से रहित है। सुतरां इस विषय में इतिहास के सबल प्रमाण हैं।......जैन धर्म प्राचीनता मे पहले नम्बर है। प्रचलित धर्मों मे जो प्राचीन धर्म हैं, उनमे भी यह प्राचीन है।"[2]

संस्कृत कालेज वाराणसी के प्राध्यापक महामहोपाध्याय पंडित राममिश्र शास्त्री ने जैनधर्म को प्राचीनता को सप्रमाण स्वीकार करते हुए कहा है "जैन धर्म तब से प्रचलित हुआ, जब से सृष्टि का आरम्भ हुआ। इसमे मुझे किसी प्रकार की आपत्ति नही है कि जैन दर्शन वेदान्तादि दर्शनों से पूर्व का है।"

सुप्रसिद्ध इतिहासकार प्रो० मेक्समूलर जैन धर्म को किसी भी धर्म की शाखा मानने को तैयार नहीं है। वे लिखते हैं : "विशेषत: प्राचीन भारत मे किसी भी धर्मान्तर से कुछ ग्रहण करके एक नूतन धर्म प्रचार करने की प्रथा ही नहीं थी। जैन धर्म हिन्दू धर्म से सर्वथा स्वतन्त्र है। वह उसकी शाखा या रूपान्तर नहीं है।"

सुप्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् मेजर जनरल जे० सी० आर० फर्लांग एफ० आर० एस० ई० ने जैन धर्म के बारे मे जो अपना अभिमत व्यक्त

---

1 Yea, his (Jain) religion is the only true one upon earth, the premitive faith of all man kind.

—Description of the character, manners and customs of the people of India and of their institutions religious and civil

२. अहिंसा-वाणी, वर्ष ६ अंक ४, जुलाई, ५६, पृ० १९७-१९८

किया है, वह पूर्व विचारो को अच्छी तरह से पुष्टि कर देता है। उनकी सुदृढ़ मान्यता थी कि ईसा से अनगिनत वर्ष पूर्व भारत मे जैन धर्म फैला हुआ था। आर्य लोग जब भारत मे आये, तब यहा जैन धर्म के अनुयायी अवस्थित थे। बौद्ध धर्म ने प्राचीन इसाई धर्म को कैसे प्रभावित किया, इस प्रश्न को समाहित करते हुए वे लिखते हैं· "बौद्ध धर्म ने प्राचीन ईसाई धर्म को कौनसे ऐतिहासिक साधनो से प्रभावित किया, इसकी गवेषणा करते हुए यह निस्सन्देह स्वीकार करना होगा कि इस धर्म ने जैन धर्म को स्वीकार किया था, जो वास्तव मे अरबो-खरबो वर्षों से करोडो मनुष्यो का प्राचीन धर्म था।"[1]

"जैन धर्म के आरम्भ को जान पाना असम्भव है।"[2]

"भारतवर्ष का सबसे प्राचीन धर्म जैन धर्म ही है।"[3]

१६ सितम्बर १६५६ को जापान के शिमिजू नगर मे विश्व धर्म परिषद् की आयोजना की गई। वर्मा उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश मा० यूचान तुन आँग ने अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए वहाँ कहा था

---

1. Through what historical channels did Budhism influence early christianity, we must widen this enquiry by making it embrace Jainism the undoubtedly prior faith fo very many millions through untold millenniums

—The short study in science of comparative religion. (Intro , p I)

2 It is impossible to find a beginning for jainism. (I. bid, p. 13)

3. Jainism thus appears an earlist faith of India. (I. bid, p. 15)

"जैन धर्म संसार के ज्ञात सभी प्राचीन धर्मों मे से एक है और उसका घर भारत है[1] ।"

डा० जिम्मर जैन को धर्म को प्राग् ऐतिहासिक व वैदिक धर्म से स्वतन्त्र तथा प्राचीन मानते हुए लिखते हैं "ब्राह्मण-आर्यों से जैन धर्म की उत्पत्ति नही हुई है, अपितु वह बहुत प्राचीन, प्राग्-आर्य उत्तर-पूर्वी भारत की उच्च श्रेणी के सृष्टि-विज्ञान और मनुष्य के आदि विकास तथा रीति-रिवाजो के अध्ययन को व्यक्त करता है[2] ।"

जैन धर्म की प्रगैतिहासिकता, अतिप्राचीनता तथा अनादिता में विश्वास होने से भगवान् ऋषभदेव के अस्तित्व मे भी सहज आस्था हो जाती है। भरत के बारे मे ऐसा कोई स्वतन्त्र तथा स्पष्ट ऐतिहासिक प्रमाण नही मिलता। किन्तु, भगवान् ऋषभदेव की परम्परा के अनन्य वाहक के रूप मे इतिहासकारो के लिए भरत अभिप्रेत हो ही जाते हैं।

---

1. अहिंसा-वाणी, वर्ष ६ अंक ७ अक्टूबर १९५६, पृ० ३०५
2. Jainism, does not derive from Brahman Aryan sources, but reflects the cosmology and anthropology of a much old, pre-Aryan upper class of north-eastern India.

—The philosophies of India, P 217

: ५ :

विदेशों में

सुप्रसिद्ध पादरी रेवरेण्ड ऐब्बे जे० ए० डुबाई ने अपनी फ्रांसीसी भाषा की पुस्तक मे लिखा है . "एक युग मे जैन धर्म सारे एशिया मे साइबेरिया से राजकुमारी तक और केस्पियन झील से लेकर केम्स चटका खाडी तक फैला हुआ था।" रेवरेण्ड डुबाई के इस मत की पुष्टि मे प्रमाणों की अल्पता नही है। विदेशो मे बहुत सारे स्थानो पर खुदाई मे तीर्थंकरों को विभिन्न मुद्राओ मे मूर्तिया प्राप्त हुई हैं तथा वहाँ को अनुश्रुतियो मे प्रसिद्ध नाना घटनाए भी इस तथ्य का विशद उद्‌घाटन करती हैं। भगवान् ऋषभदेव विदेशो मे पूज्य रहे हैं तथा वहाँ 'कृषि के देवता,' 'वर्षा के देवता' और 'सूर्यदेव' के रूप मे प्रसिद्ध रहे हैं। डा० कामता प्रसाद जैन ने उन सब मान्यताओ का विद्वानो को नाना गवेषणाओ के आधार पर वर्गीकरण करते हुए लिखा है : "पूर्व मे चीन और जापान भी उनके नाम और काम से परिचित हैं। चीनी त्रिपिटक मे उनका उल्लेख मिलता है। जापानी उनको "रोकशब" (Rok' shab) कह कर पुकारते है। मध्य एशिया, मिश्र और यूनान मे वे सूर्यदेव ज्ञान की अपेक्षा से और फोनेशिया मे "रेशेफ" नाम से बैल चिन्ह की अपेक्षा कहलाये। मध्य एशिया मे वृषभ (बैल) देव (Bull god) अर्थात "बाड आल" नाम से उल्लिखित किए गये। फणिक लोगो की भाषा मे "रेशेफ" शब्द का अर्थ 'सीगो वाला देवता" होता है, जो ऋषभ के बैल चिह्न का द्योतक है—साथ ही "रेशेफ" शब्द का साम्य भी "ऋषभ" शब्द से है। प्रो० आर० जी० हर्षे ने 'बुलेटिन आव दी डेक्कन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट" (भा० १४, खण्ड ३, पृ० २२९-२३६)

मे एक गवेषणात्मक लेख निकालकर इस साम्य को स्पष्ट किया है। उन्होंने बताया कि आलसिफ (साइप्रेस) से प्राप्त अपोलो (सूर्य) की ई० पूर्व १२ वी शती की मूर्ति का अपर नाम "रेशेफ" (Reshef) उसके लेख मे स्पष्ट होता है। यह रेशेफ ऋषभ का ही अपभ्रंश रूप है और यह ऋषभ भारतीय नरेश नाभिपुत्र होना चाहिये। यूनान मे सूर्यदेव अपोलो की ऐसी नंगी मूर्तिया मिली हैं, जिनका साम्य ऋषभ भगवान् की मूर्तियो से है। डा० कालिदास नाग ने मध्य एशिया में डेल्फी से प्राप्त एक आर्गिव मूर्ति का चित्र अपनी पुस्तक 'डिस्कवरी आव एशिया" में दिया है, जो लगभग दस हजार वर्ष पुराना है और बिल्कुल भगवान् ऋषभ की दिगम्बर जैन मूर्तियो के समान है। ऋषभ-मूर्ति की विशेषता कन्धो पर लहराती जटाएं इसमे भी हैं। "अर्गिव" शब्द का अर्थ कदाचित् अग्रमानव या अग्रदेव के रूप मे लिया जा रहा प्रतीत होता है।

फणिक लोग जैन धर्म-भक्त भी थे, यह बात जैन कथा ग्रन्थो से प्रमाणित है। अतः फणिको के "बाऽल" (Bull God) ऋषभ प्रतीत होते हैं। यह नाम प्रतीकवाद शैली का (Symbolic) है।[1]

---

१ भिक्षुस्मृति ग्रन्थ, अध्याय २, पृ० ४

: ६ :

भारतवर्ष का नामकरण

इस देश का नामकरण कैसे हुआ, यह एक जटिल प्रश्न है। इसको समाहित करने के लिए जैन और वैदिक परम्पराओ के प्राचीनतम तथा ऐतिह्य साहित्य का अनुसन्धान अपेक्षित होगा। प्रत्येक विचारक इस निष्कर्ष पर तो पहुँच हो जाते है कि चक्रवर्ती भरत के नाम से इस देश का नामकरण हुआ है। किन्तु, यह चक्रवर्ती भरत कौन था, इस विषय मे सभी विचारक एक मत नही है। जैन परम्परा मे १ भरत, २. सगर, ३. मघवा, ४ सनत्कुमार, ५. शान्ति, ६ कुन्थु, ७ अर, ८ सुभूम, ९. पद्म, १० हरिषेण, ११. जय, १२. ब्रह्मदत्त आदि १२ चक्रवर्तियो[1] का उल्लेख है। वैदिक परम्परा मे १. मान्धाता, २. धुन्धुमार, ३. हरिश्चन्द्र, ४. पुरूरवा, ५ भरत और ६. कार्तवीर्य, ये छ चक्रवर्ती[2] माने गये हैं। जैन परम्परा के प्रथम चक्रवर्ती भरत प्रथम तीर्थंकर तथा आठवें अवतार ऋषभदेव के सबसे बडे पुत्र हैं, यह मान्यता जैन और वैदिक दोनो ही परम्पराओ की है। वैदिक परम्परा मे प्रथम चक्रवर्ती भरत का चक्रवर्ती तो नही माना गया है, पर, एक अनासक्त योगी, विशिष्ट राजा तथा तत्त्व-ज्ञानी पुरुष माना गया है। पाचवें चक्रवर्ती भरत केवल वैदिक परम्परा में ही चक्रवर्ती माने गये हैं, जो राजा दुष्यन्त के पुत्र थे।

---

१ आवश्यकवृत्ति, मलयगिरि, पत्र सं० २३७

२. मान्धाता धुन्धुमारश्च हरिश्चन्द्रः पुरूरवाः ।
भरतः कार्तवीर्यश्च षडेते चक्रवर्तिन. ॥

—सटीक अभिधानचिन्तामणि, मर्त्यकाण्ड

नामकरण के बारे मे नाना विचारको की नाना कल्पनाओं ने सहज उभार लिया है। मत्स्यपुराणकार की मान्यता है . "मनुष्यो की उत्पत्ति व भरण-पोषण करने से मनु भरत कहलाता है और उसी के नाम की व्याख्या के अनुसार इस देश को 'भारत' कहा जाता है।" किन्तु, कौन-सा मनु भरत कहा जाये ?

'भरत चक्रवर्ती भारत भुङ्क्ते—शास्तीति भारतवर्षं'—भरत चक्रवर्ती भारत का उपभोग करता है तथा शासन करता है, अत उस देश का नाम भारतवर्ष है। यह कथन भी निरुक्त वचन जैसा ही प्रतीत होता है और केवल सगति वैठाने का प्रयत्न मात्र है। इससे यह ध्वनित नहीं हो सकता कि कौन से भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ। प्रस्तुत लक्ष्य की पूर्ति के लिए जैन और वैदिक परम्पराओ के मौलिक शास्त्रो, अनुश्रुतियो व एतिह्य तथ्यो को एक-एक कर परखना होगा।

जैन साहित्य मे

जैन-आगम साहित्य मे भरतक्षेत्र का उल्लेख बहुत स्थानो पर मिलता है। धर्मकथानुयोग के प्रकरणो मे, जहाँ से कथारम्भ होता है, वहाँ जम्बू-द्वीप व भरतक्षेत्र के उल्लेख के अनन्तर ही राजधानी या नगर का वर्णन किया गया है। चक्रवर्ती भरत[२] जव प्रव्रजित होकर राज-प्रासादो से निकल पडते हैं, वहाँ भरतक्षेत्र के साम्राज्य को छोडने का स्पष्ट उल्लेख है। इसी प्रकार वहाँ अन्य चक्रवर्तियो[३] के साम्राज्य-त्याग के साथ भरत-

---

१. भरणात् प्रजनाच्चैव मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनैश्चैव वर्षं तद् भारतं स्मृतम् ॥
—मत्स्य पुराण, अध्याय ११४, पृ० ८८

२. भरहो वि भरह वास चिच्चा कामाइ पव्वए।
—उत्तराध्ययनसूत्र, अ० १८, गा० ३४

३. उत्तराध्ययनसूत्र, अ० १८, गा० ३५, ३६, ३८, ४०, ४१

क्षेत्र' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। जम्बूद्वीप पण्णत्ति[1] मे भरतक्षेत्र के विस्तार, उसके प्रमुख नगर, पहाड़ो तथा नदियो का पूरा अधिकार है। वहाँ भरतक्षेत्र के नामकरण के बारे मे कहा गया है कि इस क्षेत्र मे भरत[2] नामक एक महर्धिक, महाद्युतिवत, पल्योपम-स्थिति वाले देव का वास है। उनके नाम से इस क्षेत्र का नाम भरतक्षेत्र है अथवा यह नाम शाश्वत है, अर्थात् अतीत मे यही नाम था, वर्तमान मे यही है और भविष्य मे भी यही रहेगा।

आगम-साहित्य मे भरतक्षेत्र शब्द का प्रयोग है, पर, भारतवर्ष का प्रयोग विरल भी दृष्ट नही है। उन प्रसगो का अध्ययन करने से ऐसा ज्ञात होता है कि भरतक्षेत्र और भारतवर्ष दोनो भिन्न-भिन्न हैं। भारतवर्ष तो भरतक्षेत्र का एक प्रदेश विशेष है। किन्तु, 'भारह वास' शब्द-प्रयोग से भारतवर्ष का ग्रहण न कर भरतक्षेत्र का ग्रहण किया गया है, जो गवेषणा का एक सुन्दर प्रकरण बन जाता है। आगमेतर साहित्य मे भारतवर्ष का स्वतन्त्र उल्लेख मिलता है और उनके आधार पर विद्वान्[3] यह प्रमाणित करते हैं कि भारतवर्ष का नामकरण स्वतन्त्र हुआ है और वह भगवान् ऋषभदेव के ज्येष्ठ पुत्र चक्रवर्ती भरत के नाम पर हुआ है।

वसुदेवहिंडी मे कहा गया है "सुर-असुरों द्वारा सेवित, जगत्प्रिय ऋषभदेव प्रथम राजा थे। उनके सौ पुत्र थे। भरत और बाहुबली उनमे प्रमुख थे। भगवान् ऋषभदेव ने अपने सौ पुत्रो को सारा राज्य देकर

---

१. भरतक्षेत्राधिकार

२. भरहे अइत्थदेवे महिड्ढिए महज्जुए जावपलिओवमठिइए परिवसइ से एएणट्ठेण गोयमा ! एव वुच्चइ भरहेवास। अदुत्तर च णं गोयमा ! भरहस्सवासस्स सासए णामधिज्जे पण्णत्ते।

३. जैन इतिहास की पूर्व पीठिका और हमारा अभ्युत्थान, पृ० ६

प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। भारतवर्ष का चूडामणि भरत था। उसके नाम से ही यह देश भारतवर्ष कहलाता है।"[1]

जम्बूदीपपण्णत्ति मे चक्रवर्ती भरत के प्रसग में कहा गया है: "भरत चक्रवर्ती और देव के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ और भारतवर्ष से उनका।"[2]

दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ, ऐसा उल्लेख विरल भी नहीं मिलता।

पुराण-साहित्य मे

श्रीमद् भागवत के अनुसार भारतवर्ष का प्राचीन नाम अजनाभ खण्ड था। आठवें अवतार भगवान् ऋषभदेव के समय तक यही नाम रहा। भगवान् ऋषभदेव के सौ पुत्रो मे ज्येष्ठ पुत्र अनासक्त योगी भरत जब शासक बने, तो उनके नाम से इस भूभाग का नाम बदल कर भारतवर्ष[3] हो गया। ीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ११, अध्याय २ मे उपरोक्त अभिमत को दुहराकर उसकी पुष्टि की गई है तथा अन्य पुराण भी इसी स्वर को उदात्त करते हैं। मारकण्डेय[4] पुराण मे स्पष्ट कहा गया है कि आग्नीध्र

---

१. तत्थ भरहो भरहवास चूडामणी, तस्सेव नामेण इह भारहवासं ति पव्वुच्चति। —वासुदेवहिण्डी, प्रथम खण्ड, पृ० १६८

२. भरतनाम्नश्चक्रिणो देवाच्च भारतवर्षं नाम प्रवृत्तं भारतवर्षाच्च तयोर्नाम।

३. येषां खलु महायोगी ज्येष्ठ श्रेष्ठगुण आसीद्येनेद वर्षं भारतमिति व्यपदिशन्ति। —श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ५, अ० ४।९

४. अग्नीध्रसूनोर्नाभेस्तु ऋषभोऽभूत् सुतो द्विजः।
ऋषभाद् भरतो जज्ञे वीरः पुत्रशताद् वरः॥
सोऽभिषिच्यर्षभ पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थित।
तपस्तेपे महाभाग. पुलहाश्रमसंशय॥

के पुत्र नाभि थे और उनके पुत्र श्री ऋषभदेव। श्री ऋषभदेव के सौ पुत्र हुए,जिनमे भरत अग्रणी थे। श्री ऋषभदेव ने भरत का राज्याभिषेक किया और स्वय पुलहाश्रम मे तप का अनुष्ठान करने लगे। उन्होंने भरत को हिमालय से दक्षिण का राज्य दिया जो उनके नाम से भारतवर्ष कहलाया। वायु पुराण[1], अग्नि पुराण[2], नारद पुराण[3], विष्णु पुराण[4], गरुड पुराण[5], ब्रह्माण्ड पुराण[6], वाराह पुराण[7], लिंग पुराण[8], स्कन्ध पुराण[9], शिव

हिमाह्वय दक्षिणं वर्षं भरताय पिता ददौ।
तस्मात्तु भारत वर्षं तस्य नाम्ना महात्मन ॥
—अध्याय ५०, श्लोक ३९ से ४१

१. हिमाह्वय दक्षिण वर्षं भरताय न्यवेदयत्।
तस्माद् भारत वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधा ॥
—अध्याय ३३, श्लो० ५२

२. भरताद् भारतं वर्षं भरतात् सुमतिस्त्वभूत्।
—अध्याय १०, श्लो० १२

३. आसीत् पुरा मुनिश्रेष्ठो भरतो नाम भूपति.।
आर्षभो यस्य नामेद भारतं खण्डमुच्यते ॥
—अध्याय ४८, श्लो० ५

४. ऋषभाद् भरतो जज्ञे ज्येष्ठ पुत्रशताग्रज।
ततश्च भारत वर्षमेतल्लोकेषु गीयते ॥
—अश २, अध्याय १, श्लो० ३२

५. अध्याय १, श्लो० १३

६ सोऽभिषिच्यर्षभ. पुत्रं महाप्राव्राज्यमास्थित।
हिमाह्वय दक्षिण वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधा. ॥
—अध्याय १४, श्लो० ६१

७. हेमाद्रेर्दक्षिण वर्षं महद् भारत नाम शशास। —अध्याय ७४

८. तस्मात्तु भारत वर्षं तस्य नाम्ना विदुर्बुधा।
—अध्याय ४७, श्लो० २४

९. तस्य नाम्ना त्विद वर्षं भारत चेति कीर्त्यते।
—अध्याय ७, श्लो० ५७

पुराण[1], आदि मे भी ऋषभ पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष का नाम-करण हुआ, ऐसे स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं।

महाभारत में

दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम पर भारतवर्ष का नामकरण हुआ, इस बारे मे महाभारत का एक प्रमाण दिया जाता है। वह पद्य है :

> भरताद् भारती कीर्तिर्येनेद भारतं कुलम्।
> अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः ॥ १३१ ॥
>
> —आदि पर्व, अ० ७४

"भरत से ही इस भूखण्ड का नाम भारत (अथवा भूमि का नाम भारती) हुआ। उन्ही से यह कौरव वश भारत वश के नाम से विश्रुत हुआ। उनके बाद उस कुल मे पहले तथा आज भी जो राजा हो गये हैं, वे भारत (भारतवंशी) कहे जाते हैं।" किन्तु, उपरोक्त पद्य के केवल उपरोक्त अर्थ से लेखक सहमत नही है। क्योकि इस पद्य से दुष्यन्त-पुत्र भरत के युग मे भारतवर्ष विश्रुत हुआ, न कि देश का नामकरण हुआ, यह ध्वनि भी निकलती है। किसी-किसी युग मे यशस्वी राजा होते हैं और वे देश को इतना अधिक वर्चस्व प्रदान करते हैं कि उससे देश की ख्याति समुद्रो पार भी पहुँच जाती है। ऋषभ-पुत्र भरत भी यशस्वी राजा थे। वे प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो मे अग्रणी थे। देश की कीर्ति उस समय भी बहुत फैली थी। उनके बाद युग के अनुकूल व प्रतिकूल थपेडो से देश का कायापलट होता रहा। उनके समय की देश की यश-वैजयन्ती दुष्यन्त-पुत्र भरत के समय तक उसी रूप मे रहे, यह किसी प्रकार से सगत प्रतीत नही होता। यह अधिक सम्भव लगता है कि दुष्यन्त-पुत्र भरत ने उसमे उद्वर्तन कर अपनी लोकप्रियता के कारण

---

१. तत्रापि भरते ज्येष्ठे खण्डेऽस्मिन् स्पृहणीयके।
तन्नामा चैव विख्यात खण्डं च भारत तदा ॥

—अध्याय ५२

जनमानस को पूर्णतया अपना ओर आकर्षित कर लिया हो और उस आकर्षण मे ही विद्वानो ने उपरोक्त पद्य का देश के नामकरण के साथ सम्बन्ध जोड दिया हो। अत उस युग मे भारतवर्ष की कीर्ति फैली, यही अर्थ विशेषत सगत प्रतीत होता है।

अभिज्ञान शाकुन्तल, अक ७ का अन्तिम श्लोक है :

रथेनानुद्धातः स्तिमितगतिना तीर्णजलधिः
पुरा सप्तद्वीपां जयति वसुधामप्रतिरथः
इहायं सत्त्वानां प्रसभदमनात् सर्वदमनः
पुनर्यास्यत्याख्या भरत इति लोकस्य भरणात्।

इस श्लोक के अनुवाद मे राजस्थान सस्कृत कालेज, वाराणसी के प्रधानाचार्य श्री सीताराम शास्त्री ने लिखा है : "इसी भरत के नाम से हमारा यह देश भारतवर्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ।" किन्तु, उपरोक्त श्लोक मे इस प्रकार का कही भी सकेत नही है। यह केवल उनकी अपनी वैयक्तिक धारणा है।

श्रीमद् भागवत पुराण मे दुष्यन्त-पुत्र भरत की वश-परम्परा, उसका व्यक्तित्व व वर्चस्व, राज्य-व्यवस्था आदि का सविस्तार उल्लेख किया गया है। वहाँ कहा गया है : "पिता दुष्यन्त की मृत्यु हो जाने के बाद वह परम यशस्वी बालक चक्रवर्ती सम्राट् हुआ। उसका जन्म भगवान् के अश से हुआ था, इसलिए आज भी पृथ्वी पर उसकी महिमा का गायन किया जाता है। उसके दाहिने हाथ मे चक्र का चिन्ह था और पैरो मे कमल-कोष का। महाभिषेक की विधि से राजाधिराज के पद पर उसका अभिषेक हुआ। भरत की शक्ति अपार थी। भरत ने ममता के पुत्र दीर्घतमा मुनि को पुरोहित बनाकर गगा तट पर गगासागर से लेकर गगोत्रीपर्यन्त पचपन पवित्र अश्वमेध यज्ञ किये। इसी प्रकार यमुना-तट पर भी प्रयाग से लेकर यमुनोत्री तक उन्होने अठहत्तर अश्मेध यज्ञ किये। इन सभी यज्ञो मे उन्होंने अपार धनराशि का दान किया था। दुष्यन्त-

कुमार भरत का यज्ञीय अग्निस्थान बड़े ही उत्तम गुण वाले स्थान में किया गया था। उस स्थान में भरत ने इतनी गौएं दान दी थी कि एक हजार ब्राह्मणों मे प्रत्येक ब्राह्मण को एक-एक बद्व (१३०८४) गौएं मिली थीं। इस प्रकार राजा भरत ने उन यज्ञों मे एकसौतैंतीस (५५-७८) घोड़े बांधकर (१३३ यज्ञ करके) समस्त नरपतियो को असीम आश्चर्य मे डाल दिया। इन यज्ञो के द्वारा इस लोक मे तो राजा भरत को परम यश मिला ही, अन्त में उन्होंने माया पर भी विजय प्राप्त की और देवताओ के परम गुरु भगवान् श्री हरि को प्राप्त कर लिया। यज्ञ मे एक कर्म होता है 'मष्णार'। उसमे भरत ने सुवर्ण से विभूषित, श्वेत दांतो वाले तथा काले रंग के चौदह लाख हाथी दान किये। भरत ने जो महान् कर्म किया, वह न तो पहले कोई राजा कर सका था और न कोई आगे हो कर सकेगा। क्या कभी कोई हाथ से स्वर्ग को छू सकता है ? भरत ने दिग्विजय के समय किरात, हूण, यवन, आन्ध्र, कङ्क, खश, शक और म्लेच्छ आदि समस्त ब्राह्मण-द्रोही राजाओ को मार डाला। पहले युग में बलवान् असुरो ने देवताओ पर विजय प्राप्त कर ली थी और वे रसातल मे रहने लगे थे। उस समय वे बहुत-सी देवांगनाओ को रसातल मे ले गये थे। राजा भरत ने फिर से उन्हें छुड़ा दिया। उनके राज्य मे पृथ्वी और आकाश प्रजा की सारी आवश्यकताएं पूर्ण कर देते थे। भरत ने सत्ताईस हजार वर्ष तक समस्त दिशाओं का एकछत्र शासन किया। अन्त मे सार्वभौम सम्राट् भरत ने यही निश्चय किया कि लोकपालो को भी चकित कर देने वाला ऐश्वर्य, सार्वभौम सम्पत्ति, अखण्ड शासन और यह जीवन भी मिथ्या ही है यह निश्चय करके वे ससार मे उदासीन हो गये।"[1]

दुष्यन्त-पुत्र भरत के इतने विस्तृत व्यक्तित्व-वर्णन मे उसके नाम से भारतवर्ष के नामकरण के होने का उल्लेख न होना इसी तथ्य को पुष्ट करता है कि इस भरत के कारण देश का नामकरण नही हुआ है।

१. श्रीमद् भगवत पुराण, स्कन्ध ९, अध्याय २०।२३-३३

अन्य पुराणो मे

कुछ पुराणो मे दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से देश का नामकरण हुआ, ऐसे उल्लेख भी मिलते हैं। किन्तु, आश्चर्य इस बात का है कि उन्हीं पुराणों के पूर्व प्रकरणो मे ऋषभ-पुत्र भरत के साथ नामकरण का उल्लेख किया गया है और अग्रिम प्रकरणो मे दुष्यन्त-पुत्र भरत के साथ। एक ही पुराणकार दो तरह के मत व्यक्त कैसे कर सकता है ? साथ ही कुछ पुराणो मे दुष्यन्त-पुत्र भरत के प्रकरण मे 'तस्य नाम्ना तु भारता.' कहा गया है। यह कुछ सगत प्रतीत हो सकता है। इस उल्लेख से दुष्यन्त-पुत्र के साथ भारत जाति का सम्बन्ध जुड जाता है। जिन पुराणो मे 'तस्य नाम्ना तु भारतम्' कहा गया है, वहाँ लिपि-दोष से ऐसा हो गया हो।

जैन और वैदिक साहित्य के प्रमाणो को परखते हुए यह अधिक संगत लगता है कि ऋषभ-पुत्र भरत के नाम से देश का नामकरण हुआ है।

वर्तमान इतिहास तथा अन्य आधार

श्रीमद् भागवत पुराण के अनुसार दुष्यन्त-पुत्र भरत पुरु की सतरहवी[1] पीढ़ी मे हुआ है। पुरु-वश की परम्परा चन्द्रवशी[2] परम्परा कही गई है। डा० आर० सी० मजूमदार द्वारा सम्पादित 'वैदिक एज' पुस्तक मे यह मान्यता स्पष्ट की गई है "सूर्यवश मे अयोध्या, विदेह और वैशाली, ये तीन वश परम्पराएँ प्रसिद्ध हैं[3]। ऋग्वेद[4] के अनुसार पुरु के

१ श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ९, अध्याय २१

२. श्रीमद् भागवत पुराण स्कन्ध ९, अध्याय १४ से २४ तक

3. Now we turn to the solar dynasty which Comprises the three lines of Ayodhya, Videha Vaisala and ahe saryatas. These are the only branches that are inportant of the lines produced by the nine noils of Manu —The Vedic Age, P. 275

४ मन्त्र १, सूक्त २३

पूर्व तथा उनके समय इस देश का नाम भारतवर्ष था। ऋषभ-पुत्र भरत अयोध्या की वश-परम्परा से सम्बद्ध हैं, तथा पुरु से सहस्रो वर्षों पूर्व हो चुके हैं। शतपथ ब्राह्मण मे सूर्यवशी भरत के नाम पर भारतवर्ष के नाम करण का उल्लेख मिलता है। इन विभिन्न प्रमाणो के आधार पर यह स्पष्ट है कि दुष्यन्त-पुत्र भरत के नाम से भारत वर्ष का नामकरण नहीं हुआ है, बल्कि ऋषभ-पुत्र के नाम से हुआ है। 'वैदिक ऐज'[1] पुस्तक मे इस सम्बन्ध से चर्चा की गई है, पर, वहा लेखक ने अपना कोई मत व्यक्त न कर, केवल इतना ही उल्लेख किया है कि कुछ व्यक्तियो की धारणा है—दुष्यन्त-पुत्र भरत ने इस देश के साथ अपना नाम सयोजित किया, जो आगे चलकर भारतवर्ष के नाम से विश्रुत हुआ। वहा केवल इस विषय को छुआ ही गया है।

भारत के प्राचीन राजवश[2], जैन एन्टीक्वेरी[3] मे ऋषभ-पुत्र के नाम पर भारतवर्ष नाम पडा, यह मान्यता पुष्ट की गई है। श्री जे० स्टीवेन्सन[4] ने कल्पसूत्र की भूमिका मे इस विषय को सप्रमाण विश्लिष्ट करते हुए विश्वास-पूर्वक यही स्वीकार किया है कि ऋषभ-पुत्र भरत के नाम से भारतवर्ष का नामकरण हुआ। काशी विश्वविद्यालय के इतिहास-विभाग के प्राध्यापक श्री गगाप्रसाद एम० ए० लिखते हैं :

---

१. According to some accounts, Bharata gave his name to our country which was henceforth colled Bharatavarsha. —The Vebic Age, P.292

२. भाग २, पृ० १-२

३. VOL IX, P. 79

४ Brahmanical puranas prove Rishabha to be the father of that Bharata, from whom India took to name Bharatavarsh

—Kalpasutra, Intro P. XVI

"ऋषियो ने हमारे देश का नाम प्राचीन चक्रवर्ती सम्राट् भरत के नाम पर भारतवर्ष रखा था।"[1]

श्री रामधारीसिंह 'दिनकर' ने स्पष्ट लिखा है : "भरत ऋषभदेव के ही पुत्र थे, जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पडा।"[2] रावराजा डा० श्यामविहारी मिश्र, डी० लिट्० तथा रायबहादुर पडित शुकदेवविहारी मिश्र ने 'बुद्ध पूर्व का भारतीय इतिहास' पुस्तक मे सातों हो मनुओ का सविस्तार विवेचन किया है। प्रस्तुत पुस्तक मे दो स्थानो पर विशेष वल देते हुए लिखा है : "ऋषभदेव के पुत्र महाराजा भरत हुए, जिनके नाम पर देश भारतवर्ष कहलाया।"[3] स्वायम्भुव मनु की वश-परम्परा के बोच वे लिखते हैं "भारत नाम भरत पर पडा।"[4]

---

१. प्राचीन भारत, पृ० ५

२. सस्कृति के चार अध्याय, पृ० १२६

३. अध्याय ५, पृ० ७४

४. अध्याय ४, पृ० २८

: ७ :

भारत जाति

प्राचीन ऐतिहासिक संदर्भों व विद्वानो की गवेषणा मे भगवान् ऋषभदेव के बारे मे अनेक प्रमाण मिलते हैं, पर, भरत के बारे मे कोई विशेष उल्लेख नही मिलता। वेदो मे ऋशषभदेव की स्तुति की गई है, पर, भरत का वहा उल्लेख भी नही मिलता। पुराण-साहित्य मे भरत का सविस्तार जीवन-वृत्त मिलता है। कुछ ग्रन्थो मे भारत जाति का उल्लेख अवश्य मिलता है, जो महत्त्वपूर्ण होने के साथ भरत के बारे मे चिन्तन करने के लिए कुछ विशेष सामग्री प्रस्तुत कर देता है। "ऋग्वेद के अनुसार 'भारत' का अर्थ उस जनसमूह से है, जो ई० पूर्व दूसरी सहस्राब्दी के अन्त मे भारत देश मे रहते थे। वे अन्-आर्य, अ-द्राविड और प्राग्-आर्य थे।"

"ई० पू० ११५० मे 'दशराज्ञ' युद्ध हुआ था।"[१] ऋग्वेद मे इस युद्ध का वर्णन है। वहाँ आर्य और भारत जाति के सदस्यो के बीच युद्ध हुआ, ऐसा उल्लेख है। "विश्वामित्र के नेतृत्व मे 'भारतो' की सेना विप्सा और सुतुद्री नदी के सम-प्रवाह को लाघकर 'हरिउपीया' के पश्चिम मे आगे बढ़ी।"[२]

---

१. एम० एम० वाडिया—Geological Background of Indian History, P. 93-94

२. ऋग्वेद ६. ३. ४. ५.

"'भारत' लोग लूट लिये गये और दास बना लिये गये।"[1]

"'भारत' त्रत्सु के शत्रु थे।"[2]

ऋग्वेद के अनुसार 'भारत' जाति भारतवर्ष की प्राचीनतम व प्रसिद्ध जाति है और वह अपने मे किसी महत्त्वपूर्ण इतिहास व वंश-परम्परा को समेटे हुए है।

महाभारत भारतीय संस्कृति तथा परम्पराओं का महाग्रन्थ है। सहज ही यह प्रश्न होता है कि इसे महाभारत क्यो कहा गया? इस प्रश्न का निरसन करते हुए महर्षि व्यास स्वयं कहते हैं: "इस ग्रन्थ मे भारतवंशी क्षत्रियों के महान् वंश का वर्णन किया गया है; अतः वह महाभारत कहा जाता है।"[3]

जातियो की परम्परा पर प्रकाश डालते हुए महाभारत मे आगे कहा गया है: "मनु के दो पुत्र हुए---देवभ्राट् और सुभ्राट्। सुभ्राट् के तीन पुत्र हुए—दशज्योति, शतज्योति और सहस्रज्योति। ये तीनो ही प्रजावान् और विद्वान् थे। दशज्योति के दस हजार, शतज्योति के एक लाख और सहस्रज्योति के दस लाख पुत्र उत्पन्न हुए। इन्ही से कुरु, यदु, भरत, ययाति और इक्ष्वाकु आदि राजर्षियो के वंश चले। बहुत से वंशो और प्राणियों की सृष्टि की यही परम्परा है।"[4]

श्रीमद् भागवत पुराण, स्कन्ध ९, अ० २०-२१ मे राजा दुष्यन्त के पुत्र भरत की वंश-परम्परा का सविस्तार वर्णन है। वहाँ बताया गया है कि भरत के तीन पत्नियां थी। अपने पुत्रो को अपने अनुरूप न जानकर भरत ने जब पत्नियो को स्पष्ट उत्तर दे दिया, तो उन्होंने इस भय से कि

१. ऋग्वेद ७. २. १६. ६.
२. ऋग्वेद ६. २. १. ४ और ६. २. १. ५
३. भरताना महज्जन्म महाभारत उच्यते।-महाभारत, आदि पर्व,६२।३९
४. महाभारत, आदि पर्व

सम्राट् हमें भी त्याग न दें; अपने पुत्रो को मार डाला। 'मरुत्सोम' यज्ञ से प्रसन्न होकर मरुद्गणो ने भरत को भरद्वाज दत्तक पुत्र के रूप मे दिया। भरद्वाज का दूसरा नाम वितथ था। वितथ की ही इस वंश-परम्परा में आसक्ति व स्पृहा से रहित राजा रन्तिदेव हुआ और बहुत सारी पीढियों के बाद पचाल तथा उसके बाद राजा द्रुपद हुआ। इन सबके वंश का नामकरण भरत हुआ।

जैन-पुराण के अतिरिक्त श्रीमद् भागवत पुराण में ऋषभ-पुत्र भरत की वंश-परम्परा का भी सविस्तार वर्णन किया गया है। भरत का उत्तराधिकारी सुमति और उसके बाद क्रमश देवताजित्, देवद्युम्न, परमेष्ठी, प्रतीह, प्रतिहर्ता, अज, उद्गीथ, प्रस्ताव, विभू, पृथुषेण, नक्त और तेरहवी पीढ़ी मे राजा गय हुआ। राजा गय भगवान् विष्णु का ही अंश माना जाता था। उसके बाद चित्ररथ, सम्राट्, मरीचि, बिन्दुमान्, मधु, वीरव्रत, मन्थु, भोवन, त्वष्टा, विरज और चौबीसवी पीढी मे शतजित् हुआ। राजा विरज भी राजा गय की तरह भगवद्-भक्त तथा अतिविश्रुत हुआ।

सहज ही प्रश्न पैदा होता है कि जब पुराण-साहित्य मे दोनों ही भरतो की वंश-परम्पराओं का सविस्तार उल्लेख मिलता है, तब भारत जाति का नामकरण कौन से भरत के आधार पर हुआ? इतिहास प्रत्येक काल मे उलटे पावों से चलता है। दुष्यन्त-पुत्र भरत, ऋषभ-पुत्र भरत का उत्तरवर्ती है; अतः इतिहासकारो का प्रथम दृष्टिपात सहसा दुष्यन्त-पुत्र भरत पर ही होगा, किन्तु, पक्ष-विपक्ष के प्रमाणो का जब बलाबल परखा जायेगा तथा इतिहास अपनी तहें और अधिक खोलेगा, तो अन्वेषण की पैनी दृष्टि ऋषभ-पुत्र भरत पर भी केन्द्रित हुए विना नही रहेगी, ऐसा विश्वास है। पुराणो मे ऋषभ-पुत्र भरत अधिक प्रशस्य, प्रसिद्ध, अनासक्त, भगवद्-भक्त व विशेष लोकप्रिय माने गये हैं।

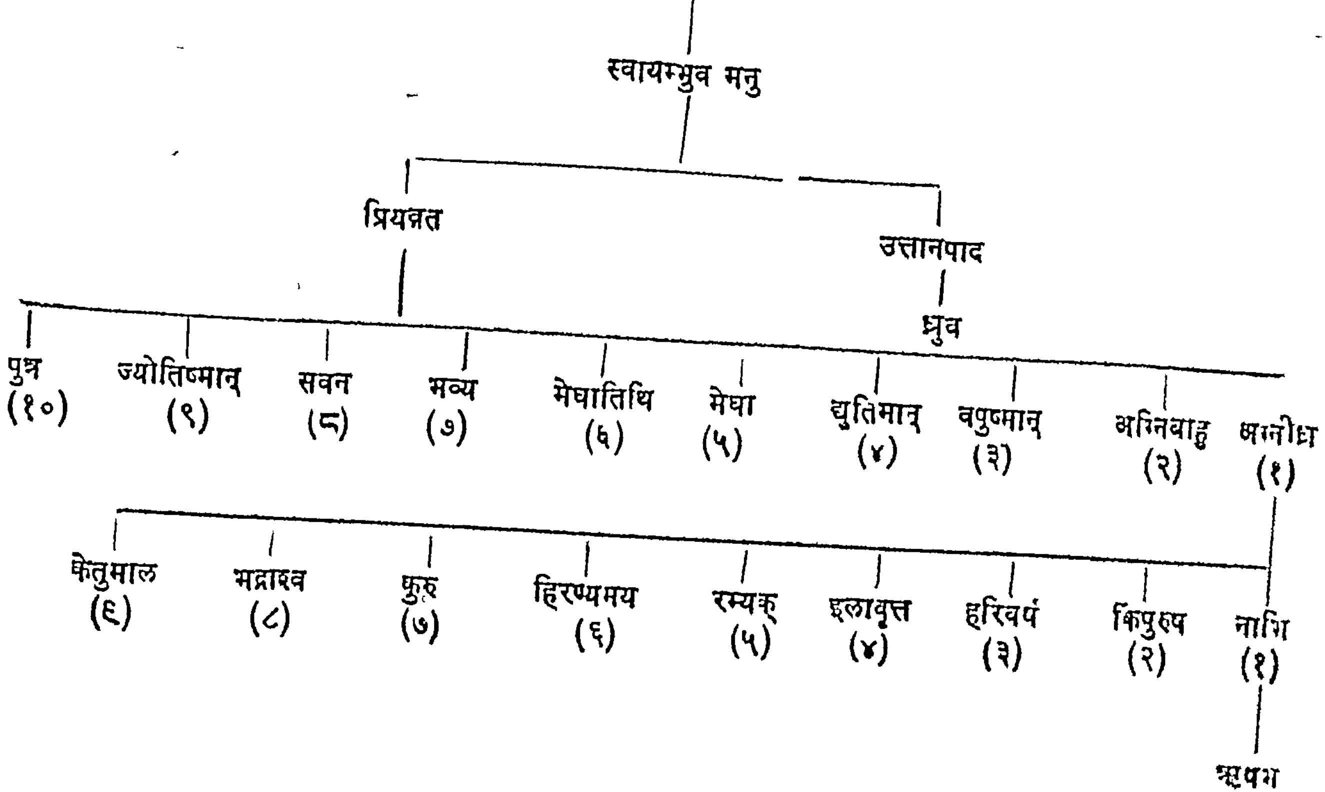
दुष्यन्त-पुत्र भरत पुरु की वंश-परम्परा का वाहक है, यह सर्वसम्मत है। डा० राधाकुमुद मुकर्जी ऋग्वेद कालीन भारतवर्ष का भौगोलिक

वर्णन करने के अनन्तर लिखते हैं : "यह प्रदेश कई वैदिक जनो मे बंटा हुआ था, जिनमे से कुछ प्रधान जनो के नाम मिलते हैं—जैसे, गांधारी, मूजवन्त, अनु, द्रुह्यु और तुरवश, पुरु और भरत।"[1] यहाँ पुरु और भरत; दोनो का पृथक्-पृथक् उल्लेख यह भली-भान्ति प्रमाणित करता है कि भारत जाति दुष्यन्त-पुत्र भरत से कई शताब्दियो पूर्व भी यहाँ विद्यमान थी। डा० मुकर्जी आगे और स्पष्ट लिखते हैं : "ऋग्वेद कालीन जनो मे भरतो के अतिरिक्त पुरु भी महत्त्वपूर्ण थे। वे दोनो आगे चलकर कुरुओं मे मिल गये।"[2] इन आधारो से यह अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है कि भारत जाति का अपना बहुत प्राचीन इतिहास है और वह असंदिग्ध रूप से ऋषभ-पुत्र भरत तक पहुँच सकता है।

---

१. हिन्दू सभ्यता, पृ० ७२

२. हिन्दू सभ्यता, पृ० ७३



—विष्णु पुराण, अंश २, अध्याय १ के आधार पर